हिन्दुजाति का परम धर्म

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः ।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥

(महा० कर्णप० ६९।५९)

वैदिकमुनि

हिन्दुजाति का परम धर्म

जिसको

श्रीमन्निखिलशास्त्रनिष्णात पण्डित

स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि ने

निर्माण किया

और

'निर्णयसागर' छापखाना-मुम्बई में छपवाया,

संवत् १९७९, सन १९२३.

प्रथम बार १०००] [मूल्य ।-)

पब्लीशर—स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि,
गुरुकुल गुजरान-वाला.

प्रिन्टर—रामचंद्र येसु शेडगे, निर्णयसागर छापखाना,
२३, कोलभाट गल्ली, मुंबई.

उपोद्घात

"ओम् सङ्घं शरणं गच्छामि"

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
सततं श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥१॥
सङ्घाधीनां श्रियं प्राहुः सङ्घाधीनं च गौरवम् ।
जातिदेशप्रतिष्ठां च सङ्घाधीनां मनीषिणः ॥२॥

मनुष्य की श्री, उसके देश तथा जाति की प्रतिष्ठा और उसका गौरव, जो सांसारिक सुख का एक प्रधान अङ्ग है, केवल उसकी वैयक्तिक शक्ति पर ही निर्भर नहीं, किन्तु बहुत अंशों में उनकी (मनुष्यों की) सङ्घशक्ति पर भी निर्भर है। हिन्दुओं में वैयक्तिक शक्ति का कथञ्चित् सद्भाव होने पर भी सङ्घशक्ति का बहुत कुछ ह्रास है। उसी के पुनरुज्जीवित करने के लिये यह "हिन्दुजाति का परम धर्म" नाम की पुस्तक लिखी है। और साथ ही "हिन्दुसङ्घ" के उद्देश तथा नियम भी लिख दिये हैं। जिन को (पुस्तक, उद्देश तथा नियमों को) पढ़ कर समयाभिज्ञ सभ्य हिन्दु गण अपनी सङ्घ-शक्ति को पुनरुज्जीवित कर सकें और उसके पुनरुज्जीवन के मूल साधन "हिन्दुसङ्घ" की प्रत्येक नगर तथा प्रत्येक ग्राम (गांव) में अति शीघ्र अनायास ही स्थापना करसकें।

भिन्न-स्वभाव तथा भिन्न-शक्तिवाली, अनेक व्यक्तियों के नियमबद्ध सङ्गठन विशेष का नाम यहां "सङ्घ" है। ऐसा सङ्घ विशेष ही प्रायः लोक में अपने उद्देशों के सिद्ध करने में सर्वथा पर्याप्त समझा और माना जाता है। आशा है कि जैसे भिन्न स्वभाव तथा भिन्न शक्ति वाले, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन सब भूतों का सङ्गठन विशेष-रूपी यह शरीर-सङ्घ अपने जीवन रूपी उद्देश के सिद्ध करने में सब प्रकार से समर्थ देखा जाता है, वैसे भिन्न स्वभाव तथा भिन्न शक्ति वाले ब्राह्मण से अन्त्यज पर्य्यन्त-शैव, वैष्णव, जैन, सिक्ख, ब्राह्म-समाजी, आर्य्यसमाजी, आदि गृहस्थ, साधु, सब हिन्दुओं का यह सङ्गठन विशेष रूपी "हिन्दुसङ्घ" भी अपने उद्देशों के सिद्ध करने में सब प्रकार से समर्थ देखा जायगा। हिन्दु-सङ्घ के उद्देश पांच ५ और नियम बाईस २२ हैं। उनमें प्रथम उद्देश के आरम्भ में लिखे गये धर्म-पद से कोई साम्प्रदायिक धर्मविशेष विवक्षित नहीं, किन्तु मनुस्मृति के छेवें ६ अध्याय में संग्रह रूप से कथन किया साधारण धर्म ही धर्म-पद से अभिप्रेत है। मनुस्मृति का साधारणधर्म-विषयक संग्रह-श्लोक यह है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥९२॥

अर्थ—धृति (विपद् उपस्थित होने पर भी अपने स्वभाव में पर्वत के समान अचल रहना), क्षमा (अपने से निर्बल के अपमान को सह लेना), दम (मन को अपने अधीन रखना), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (सब प्रकार से पवित्र रहना),

इन्द्रियनिग्रह (अपनी इन्द्रियों को निषिद्ध विषयों में जाने से रोकना), धी (प्रत्येक कार्य के आरम्भ में उसके परिणाम का बार बार चिन्तन अर्थात् एकाग्र मन से विचार करना) विद्या (धार्मिक, व्यावहारिक तथा शिल्पादि अनेक विध विद्याओं का सम्पादन करना), सत्य (देखे तथा सुने अनुसार कहना) अक्रोध (क्रोध का निमित्त उपस्थित होने पर भी क्रोध न करना), यह दश साधारण धर्म हैं ॥९२॥

जो कार्य्य धार्मिक दृष्टि से लाभकारी होता है, वही नैतिक दृष्टि से हानिकारक होता है। जो जातियें धर्म और नीति का भेद नहीं जानतीं, वे कदाचित् ऐसा कार्य्य कर बैठती हैं, जिससे उनको लाभ के स्थान में अत्यन्त हानि उठानी पड़ती है। हिन्दुजाति को भी कदाचित् यह भुक्तान भुक्तना न पड़े, इस लिये उद्देश में धर्म से अलग नीति का ग्रहण किया है।

धर्म और नीति का यथासमय यथावत् अनुष्ठान तब तक कोई जाति नहीं कर सकती, जब तक उसके साम्हने धन उपार्जन का कोई स्वतन्त्र उपाय विद्यमान न हो। अर्थशास्त्र में धन-उपार्जन के स्वतन्त्र और परतन्त्र अनेक उपाय लिखे हैं, उन में कृषि, वाणिज्य, और नाना प्रकार का शिल्प, यह तीन उपाय ही सब से उत्तम धन-उपार्जन के स्वतन्त्र उपाय हैं। जो जातियें इन तीनों उपायों से धन-उपार्जन में अहर्निश प्रयत्नशील रहती हैं, वे ही यथासमय धर्म और नीति का यथावत् अनुष्ठान कर सकती हैं। हिन्दु-जाति भी धनोपार्जन के सब से उत्तम तथा स्वतन्त्र उपायों में प्रयत्नशील हुई धर्म और नीति का यथावत् अनुष्ठान करसके,

इसलिये उद्देश में धर्म और नीति के पीछे कृषि, वाणिज्य और अनेक विध शिल्प का उल्लेख किया है।

कृषि, वाणिज्य, और नाना प्रकार का शिल्प, धनोपार्जन के सर्वोत्तम तथा स्वतन्त्र उपाय अवश्य हैं, परन्तु उन से यथेष्ट लाभ वे ही जातियें उठा सकती हैं, जो कृषिविद्या, वाणिज्यविद्या, तथा शिल्पविद्या में निपुण होती हैं। हिन्दु जाति धनोपार्जन के सर्वोत्तम तथा स्वतन्त्र उक्त तीनों उपायों को जानती हुई भी उनकी विद्याओं में निपुण नहीं है। यही कारण है कि वह धनोपार्जन के उक्त तीनों उपायों में रत न होकर धनोपार्जन के निषिद्ध तथा परतन्त्र उपायों में ही अधिकतर रत है। किसी जाति का किसी विद्या में निपुण होना उसके (विद्या के) प्रचार पर निर्भर है। हिन्दुजाति में जैसे धर्मविद्या, तथा नीतिविद्या का प्रचार नहीं है, वैसे कृषिविद्या, वाणिज्यविद्या, और नानाविध—शिल्पविद्या का प्रचार भी नहीं है। और यदि कहीं है भी, तो वह विदेशी भाषा के द्वारा होता है, स्वदेश भाषा के द्वारा नहीं। हिन्दु-जाति में स्वदेश भाषा के द्वारा ही प्रचार का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी को लक्ष्य में रख कर लिखा है कि "**हिन्दुओं में स्वदेश-भाषा के द्वारा धर्म, नीति, कृषि, वाणिज्य तथा शिल्प आदि अनेकविध विद्याओं का प्रचार करना**"। स्वदेश भाषा से राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय, दोनों भाषा अभिप्रेत हैं। राष्ट्रीय भाषा से "**हिन्दी भाषा**" और प्रान्तीय भाषा से "**पञ्जाबी**" आदि सब भाषायें विवक्षित हैं।

हिन्दुजाति में धर्म आदि विद्याओं का प्रचार दो प्रकार से हो सकता है, एक मौखिक व्याख्यानों के द्वारा, दूसरा उपयुक्त पुस्तकों के निर्माण द्वारा। दोनों में उपयुक्त पुस्तकों के निर्माण द्वारा किया गया प्रचार ही चिरस्थायी होने से विशेषतया लाभकारी है, मौखिक व्याख्यानों के द्वारा किया गया प्रचार विस्मरण हो जाने के कारण विशेषतया लाभकारी नहीं। इसी को ध्यान में रखकर उद्देश में कहा है कि **"हिन्दुओं में अनेकविध विद्याओं के प्रचार के लिये उपयुक्त साहित्य तैयार करना"।**

विद्यावती हुई जाति तब तक अपने वाञ्छित फल को प्राप्त नहीं कर सकती, जब तक वह अपनी विद्या के अनुकूल हाथ से कर्म न करे, क्योंकि विद्या का स्वभाव वाञ्छित फल के सम्पादन का प्रकार बतलाना, और उसकी प्राप्ति के सुगम मार्ग का ज्ञान कराना मात्र है, वाञ्छित फल का प्राप्त कराना नहीं, वाञ्छित फल की प्राप्ति केवल विद्यानुकूल कर्म करने से ही होती है, यह ध्रुव नियम है। उपयुक्त पुस्तकों के निर्माण द्वारा प्रचार से विद्यावती हुई हिन्दुजाति अपने वाञ्छित फल को अवश्य प्राप्त करे, इसी को दृष्टि गोचर रखकर उद्देश के अन्त में कहा है कि **"और हिन्दुओं को हर एक प्रकार से कर्मण्य अर्थात हाथसे काम करने के योग्य बनाना"** ॥१॥

मनुष्यजाति विद्यावती हुई कितना ही अपने हाथों से काम करने वाली क्यों न हो, तब तक धनाढ्य नहीं हो सकती,

जब तक उसका स्वदेशीय वस्तुओं में अत्यन्त प्रेम न हो, और वह उस प्रेम के वशीभूत हुई अधिक से अधिक मूल्यवान् होने पर भी उन्हीं को अपने वर्तने में न लाये। हिन्दुजाति में सनातन से स्वदेशीय पस्तुओं का प्रेम होने पर भी अत्यन्त प्रेम नहीं है। यही कारण है कि वह स्वदेशीय वस्तुओं में अत्यन्त प्रेम रखने वाली दूसरी जातियों के समान धनाढ्य नहीं है। हिन्दुसङ्घ का कर्तव्य है कि वह हिन्दुजाति को धनाढ्य बनाने के लिये उसका स्वदेशीय वस्तुओं में अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करे, जिस से वह उस के (प्रेम के) वशीभूत हुई अधिक से अधिक मूल्यवान् होने पर भी उन्हीं को अपने वर्तने में लाये, और स्वदेशीय वस्तुओं में अत्यन्त प्रेम के वशीभूत होकर अधिक से अधिक मूल्यवान् होने पर भी उन्हीं को अपने वर्तने में लाने वाली दूसरी जातियों के समान वह भी धनाढ्य हो जाये। क्योंकि उसके धनाढ्य होने से ही उसकी तथा उसके देशकी महिमा और प्रतिष्ठा जैसी चाहिये वैसी बढ़ सकती है। यही बात हिन्दुसङ्घ के दूसरे उद्देश में शब्दान्तर से कही गई है। हिन्दुसङ्घ के दूसरे उद्देश का आकार एवंप्रकार है "**हिन्दुओं में स्वदेशीय वस्तुओं की प्रीति बढ़ाना और उनकी धन सम्बन्धी स्थिति की उन्नति करना**"। अपने देश में उत्पन्न हुई और अपने देश में ही अपने हाथों से तैयार की गई वस्तुओं में शनैः शनैः प्रेम बढ़ाते बढ़ाते अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करना, उद्देश के प्रथम भाग का अर्थ है। विदेशीय वस्तुओं और मादक द्रव्यों के क्रय में (खरीदने में) हिन्दुओं के धन को व्यय न होने देना,

यह उद्देश के दूसरे भाग का अर्थ है, और इसी को हिन्दुओं की धन सम्बन्धी स्थितिकी उन्नति करना कहते हैं ॥२॥

मनुष्य विद्यावान् हो, धनाढ्य हो, यदि उस में शारीरिक बल नहीं, आत्मिक बल नहीं, तो उस को सांसारिक सुख का यथोचित उपभोग कदापि नहीं हो सकता, और नही उस से जाति तथा देश की प्रतिष्ठा बढ़ सकती और नही वह विद्वानों तथा धनाढ्यों की गोष्ठी (सभा) में स्वयं कुछ गौरव प्राप्त कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि विद्या और धन के साथ साथ शरीर तथा आत्मा का बलवान् होना भी लोक में परम उपयोगी होने से अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दुओं में जैसे विद्या अल्प है, धन अल्प है, वैसे शारीरिक बल तथा आत्मिक बल भी बहुत अल्प है। इसी को लक्ष्य में रखकर हिन्दुसङ्घ के तीसरे उद्देश में यह लिखा है कि "**हिन्दुओं की शारीरिक तथा आत्मिक अवस्था को ठीक करना**"। इस का अर्थ यह है कि सङ्घ विद्या और धन के साथ साथ हिन्दुओं के शरीरों तथा आत्माओं को भी बलवान् बनाने का प्रयत्न करे। अर्थात् यथाविधि ब्रह्मचर्य्य का पालन करना, मादक पदार्थों का सेवन न करना, रस्य, स्निग्ध, पुष्टिकारक तथा हित, मित, पदार्थों का नियत समय में खाना और स्वच्छ वायु में यथारुचि नाना प्रकार का व्यायाम करना, यह सब शारीरिक बल के, और प्रतिदिन नियमपूर्वक स्वाध्याय करना (धार्मिक, नैतिक पुस्तकों का पढ़ना) प्राचीन (राम, भीष्म, भीम, अर्जुन आदि) तथा अर्वाचीन (राना प्रताप, शिवा जी, गुरु गोविन्द-सिंह जी आदि) अपने पूर्वज पुरुषों के जीवन चरित्रों का पढ़ना तथा सुनना, और नाना विध इतिहास ग्रन्थों का यथा-

बसर अवलोकन करना, योगसाधन और अध्यात्मविद्या का उपदेश लेना, यह सब आत्मिक बल के शास्त्रसम्मत साधन हैं। इन सब के यथाविधि अनुष्ठान में समस्त हिन्दुओं की रुचि को उत्पन्न करना ही उन की (हिन्दुओं की) शारीरिक तथा आत्मिक अवस्था को ठीक करना है।

प्राय: देखा जाता है कि अनेक बलवान् भद्रपुरुष प्रथम तो अपने बल को उपयोग में लाते ही नहीं, और यदि लाते हैं तो ऐसे कार्य्यों के लिये कि जिन का उन के आत्मा को छोड़ कर जातिसेवा, तथा देशसेवा के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यह स्वार्थ भरा बलोपयोग लोक-निन्दनीय तथा शास्त्र-निषिद्ध है। सङ्घ को चाहिये कि वह हिन्दुओं को बलवान् बनाकर उन में जातिसेवा तथा देशसेवा का ऐसा दृढ़ और अटूट भाव भरे कि वे समय समय पर जातिसेवा तथा देश-सेवा के लिये अपने बल को उपयोग में लाने से भूल कर भी विमुख न हों, क्योंकि——

जातिसेवा परो धर्मो राष्ट्रसेवा तथैव च।
क्रियेते शुद्धभावेन, यैस्ते देवोपमा नराः ॥१॥

इसी अभिप्राय से उद्देश के अन्त में कहा है कि **"और उन में जातिसेवा तथा देशसेवा का भाव भरना" ॥३॥**

मनुष्यजाति का यह स्वभाव है कि जब तक उस की संख्या की वृद्धि, उसमें विद्या, कर्मण्यता, तथा धन की समृद्धि और जातिसेवा तथा देशसेवा के भाव की प्रतिदिन उन्नति होती जाती है, तब तक दूसरी जातियों की दृष्टि में उसको

महिमा और प्रतिष्ठा भी प्रतिपल उन्नति को प्राप्त होती जाती और वह बड़े आदर के साथ एक सुशिक्षित तथा सभ्य जाति मानी जाती, और उसका आचरण तथा शासन बड़ी उत्सकता से माननीय तथा अनुकरणीय समझा जाता है। और जब अविद्या तथा अकर्मण्यता, जाति सेवा, तथा देश सेवा के भाव की निद्रित अवस्था, और आपस में घृणा की मात्रा की प्रतिदिन बढ़ती से उसकी संख्या घटने लग जाती है, तब उस की सब महिमा और प्रतिष्ठा धूर में मिल जाती, और उसके सब गुण अवगुण हो जाते हैं, उस के आचरण और शासन के अनुकरण को पाप समझा जाता और एक असभ्य जाति मानी तथा प्रायः सर्वत्र तिरस्करणीय समझी जाती है। इस समय हिन्दूजाति की सचमुच यही दशा है। इसी को दृष्टि में रखकर चौथे उद्देश के आरम्भ में लिखा है कि **"हिन्दुओं की संख्या को घटने से बचाना तथा बढ़ाने का यथोचित उपाय अनुष्ठान में लाना"।**

हिन्दुओं की संख्या घटने के मुख्य कारण तीन हैं – **एक–** पचास वर्ष से नीचे की आयु के अनेक स्त्री पुरुषों का अविवाहित रहना। **दूसरा** विवाहित होने पर चिरजीवी सन्तान उत्पन्न न करना। **तीसरा** घृणा की मात्रा अधिक बढ़ जाने के कारण अनेक हिन्दुओं का खिन्नचित्त होकर हिन्दुधर्म को छोड़ देना और दूसरे धर्मों में जा मिलना। इन्हीं तीनों कारणों के दूर करने का प्रबन्ध करना हिन्दुओं की संख्या को घटने से बचाना है। संख्या बढ़ाने के उपाय

मुख्य दो हैं—एक— हिन्दु धर्म से भिन्न दूसरे धर्मों में चले गये अपने भाईयों को उनकी इच्छा के अनुकूल पुनः हिन्दु-धर्म में यथाविधि लाना और यथाविधि लाये गयों से प्रेम-भरा वर्ताव करना। दूसरा अस्पृश्य जातियों को स्पर्श के योग्य बनाना, और आवश्यक तथा उचित अधिकार देकर उन की प्रसन्नता को ज्यों का त्यों बनाई रखना। इन्हीं दो परम पवित्र तथा परमावश्यक उपायों को हिन्दुओं की संख्या बढ़ाने का यथोचित उपाय कहते हैं। इन्हीं द्विविध यथोचित उपायों के निरन्तर अनुष्ठानाधीन ही हिन्दुजाति का गौरव और अस्तित्व है। इसलिये हिन्दुओं को, या यों कहो कि उन के प्रतिनिधि "हिन्दुसङ्घ" को इन परमावश्यक तथा परमपवित्र दोनों उपायों के अनुष्ठान से आ प्रलयान्त कदापि विमुख न होना चाहिये। यही इस चौथे उद्देश के आरम्भिक वाक्यों का सार है।

हिन्दुओं की संख्या को घटने से बचाने और बढ़ाने का यथोचित उपाय यावज्जीव अनुष्ठान में लाने के अतिरिक्त एक और बात है, जो हिन्दुओं के सङ्गठन को दृढ़ करती और आपस में भ्रातृभाव के सम्बन्ध को अभिव्यक्त करके समस्त हिन्दु-जाति को अच्छेद्य तथा अभेद्य बनाती है। वह है विपत्काल में हिन्दुओं की यथाशक्ति सब प्रकार से सहायता करना। जिस जाति में अपने भाईयों की सहायता करना रूपी उच्चतम भाव सर्वदा जागृत रहता है, उसकी शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि फिर कोई दूसरी जाति उस पर बलप्रयोग करने का साहस नहीं कर सकती। इस समय हिन्दुजाति में इस उच्चतम भाव के पुनः जागृत करने की बड़ी आवश्यकता है। इसी को

मन में रख कर उद्देश के अन्त में लिखा है कि "और विपत्काल में यथाशक्ति सहायता करना" ॥४॥

वेद स्मृति तथा पुराणों के पढ़ने से विदित होता है कि हिन्दुओं में समयानुसार अनेक वार सामाजिक अवस्था का सुधार हुआ है। इस समय भी उसका सुधार परमावश्यक है, क्योंकि उसका विगाड़ ही हिन्दुओं की अवनति का प्रधान कारण है। बाल्यविवाह तथा वृद्धविवाह करना, विवाह के योग्य-विवाह की इच्छा रखने वाली विधवाओं का विवाह न करना, अपने लड़कों को आरम्भ में धर्मशिक्षा न दिलवा कर दूसरों के स्कूलों में भेजना, अपनी लड़कियों को अपनी दृष्टि के भीतर पाठशालाओं में स्त्री गुण-सम्पन्न सुयोग्य अध्यापिकाओं से शिक्षा न दिलवाना, और उनको अपनी दृष्टि से अति दूर दूसरों के स्कूलों में भेजना, और उनकी देख भाल न करना, अपने देश के अनाथ लड़की-लड़कों के पालन पोषण पर विशेष ध्यान न देना, बिना समझे सोचे अन्धाधुन्ध अन्नक्षेत्र तथा सदावर्त खोलकर भीख मंगों की संख्या बढ़ाना, इत्यादि अनेक कारण हैं, जो हिन्दुओं की सामाजिक अवस्था को बिगाड़ते हैं। इन्हीं कारणों की शनैः शनैः समूल निवृत्ति को हिन्दुओं की सामाजिक अवस्था का सुधार करना कहते हैं। यही हिन्दु सङ्घ के पांचवें उद्देश के पूर्वार्ध का आशय है, जिसका स्वरूप एवं रूप है "हिंदुओं की सामाजिक अवस्था का सुधार करना"।

हिन्दुओं की सामाजिक अवस्था के सुधरते जाने से हिन्दुसङ्घ के कार्यक्षेत्र का विस्तृत होजाना अति सम्भावित

है, और उसके सुप्रबन्ध के लिये अनेक सुयोग्य सदस्यों की आवश्यकता है, क्योंकि विद्याप्रचार से लेकर सामाजिक अवस्था के सुधार पर्यन्त अनेकविध कार्यों का साङ्गोपाङ्ग ठीक ठीक प्रबन्ध सुयोग्य हिन्दुओं के विना कदापि नहीं हो सकता। और योग्यता क्वचित स्वभावसिद्ध होने पर भी प्रायः शिक्षा और उपदेश पर निर्भर है। इसी अभिप्राय से उद्देश के उत्तरार्ध में कहा है कि "उनको (हिन्दुओं को) सङ्घ के योग्य बनाना"॥५॥

हिन्दुसङ्घ के पांचों उद्देशों का संक्षिप्त विवरण किया गया, विशेष विवरण सुयोग्य विद्वान् सदस्य-गण स्वयं कर सकते हैं। इस लिये उसकी आवश्यकता नहीं समझी गई। हिन्दुसङ्घ के २२ बाईस नियम बहुत सरल हैं, उनका अर्थ समझने के लिये विवरण अपेक्षित नहीं। उद्देश और नियमों का आकार आगे की पृष्ठों में स्पष्ट है।

वैदिकमुनि

॥ ओ३म् ॥

हिन्दुसङ्घ के उद्देश।

(१) हिन्दुओं में स्वदेश भाषा के द्वारा धर्म, नीति, कृषि, वाणिज्य, तथा शिल्प आदि अनेक विध विद्याओं का प्रचार करना, प्रचार के लिये उपयुक्त साहित्य तैयार करना और हिन्दुओं को हर एक प्रकार से कर्मण्य अर्थात् हाथ से काम करने के योग्य बनाना।

(२) हिन्दुओं में स्वदेशीय वस्तुओं की प्रीति बढ़ाना और उनकी धनसम्बन्धी स्थिति की उन्नति करना।

(३) हिन्दुओं की शारीरिक तथा आत्मिक अवस्था को ठीक करना और उनमें देशसेवा तथा जातिसेवा का भाव भरना।

(४) हिन्दुओं की संख्या को घटने से बचाना तथा बढ़ाने का यथोचित उपाय यावज्जीव अनुष्ठान में लाना और विपत्काल में यथाशक्ति सहायता करना।

(५) हिन्दुओं की सामाजिक अवस्था का सुधार करना और उन को सङ्घ के योग्य बनाना।

हिन्दुसङ्घ के नियम।

(१) हिन्दुओं के इस समुदायविशेषका नाम "हिन्दुसङ्घ" होगा।

(२) अठारह १८ वर्ष से ऊपर आयु का प्रत्येक हिन्दु इस सङ्घ का सदस्य बन सकता है।

(३) प्रत्येक सदस्य को वार्षिक तीन ३) रुपया चन्दा देना होगा। और जिस को किसी योग्यता—विशेष के कारण अन्तरङ्ग सभा स्वयं सदस्य बना ले, उसको देने की आवश्यकता नहीं।

(४) सङ्घ के प्रत्येक सदस्य को सम्मति देने का अधिकार होगा, परन्तु जिसने वर्ष के आरम्भ में अपना चन्दा न दिया हो, उस को नहीं।

(५) सदस्य बनने के लिये प्रार्थना पत्र * लिख कर मन्त्री को देना होगा, और उस में अपना नाम, पिता का नाम, आयु, निवासस्थान, व्यवसाय (पेशा) और भाषाविज्ञान, लिखना होगा।

(६) प्रार्थना पत्र स्वीकार करने का अधिकार अन्तरङ्ग-सभा को होगा।

(७) हिन्दुसङ्घ के अधिकारी निम्नलिखित होंगे—१ प्रधान २ उपप्रधान ३ मन्त्री ४ कोषाध्यक्ष ५ पुस्तकाध्यक्ष।

(८) अधिकारियों का वरण (चुनाव) प्रतिवर्ष सङ्घ के वार्षिक अधिवेशन में सदस्य किया करेंगे।

---

* मैं प्रसन्नतापूर्वक हिन्दुसङ्घ के उद्देशों के अनुकूल आचरण करना स्वीकार करता हूं। मेरा नाम हिन्दुसङ्घ के सदस्यों में लिख लें।

(९) सङ्घ के सदस्यों के अनेक उपसङ्घ (अवान्तर सङ्घ) होंगे, उन में से प्रत्येक उपसङ्घ का एक एक सदस्य अन्तरङ्ग सभा का सभ्य हुआ करेगा। उपसङ्घों की संख्या समयानुसार नियत हुआ करेगी।

(१०) सङ्घ के जो अधिकारी होंगे, वे ही अन्तरङ्गसभा के भी अधिकारी होंगे। परन्तु आवश्यकता होने पर सहायक अधिकारी अन्तरङ्ग सभा स्वयं बना लिया करेगी।

(११) सब प्रकार का प्रबन्ध अन्तरङ्गसभा के हाथ में रहेगा।

(१२) सङ्घ का साधारण अधिवेशन प्रति सप्ताह, विशेष अधिवेशन प्रतिवर्ष और अन्तरङ्ग सभाका विशेष अधिवेशन प्रति मास अवश्य हुआ करेगा। प्रतिवर्ष सङ्घ का विशेष अधिवेशन उत्सव मनाने, वर्ष का वृत्तान्त सुनने, अधिकारियों के चुनने तथा विशेष विशेष विषयों के निर्णय के लिये और अन्तरङ्ग-सभा का प्रतिमास विशेष अधिवेशन केवल विशेष विशेष विषयों के निर्णय के लिये ही हुआ करेगा।

(१३) सदस्यों के पञ्चम भाग की प्रार्थना से सङ्घ का और तीन सभ्यों की प्रार्थना से, अथवा प्रधान, वा उपप्रधान, वा मन्त्री की विशेष प्रेरणा से अन्तरङ्ग सभा का किसी अत्यन्त आवश्यक विषय विशेष के निर्णय के लिये बीच बीच में भी विशेष अधिवेशन हो जाया करेगा।

(१४) सङ्घ के अधिवेशन का चौदह दिन पहले और अन्त-रङ्ग सभा के अधिवेशन का तीन दिन पहले विज्ञापन दिया जायगा। और दोनों के अधिवेशनों में निर्णेतव्य विषयों के नाम का विज्ञापन में उल्लेख किया जायगा।

(१५) किसी विषय विशेष के निर्णय काल में सङ्घ और

सभाकी पर्याप्ति (कोरम) एक चौथाई सदस्यों और सभ्यों की उपस्थिति पर समझी जायगी।

(१६) सङ्घ के वार्षिक अधिवेशन से पूर्व सभ्यों वा अधिकारियोंके रिक्तस्थान की पूर्ति अन्तरङ्ग सभा स्वयं किया करेगी।

(१७) वार्षिक व्ययका व्योरा (बजट) प्रतिवर्ष सङ्घ स्वीकार किया करेगा।

(१८) अन्तरङ्ग सभा उपनियम बनायेगी और सङ्घ से उनकी स्वीकृति लेगी।

(१९) अन्तरङ्ग सभा को भिन्न भिन्न कार्य्यों के सुप्रबन्ध के लिये अपने अधीन अवसङ्घों (सब कमेटियों) के बनाने का अधिकार होगा, जिनमें सङ्घ और सभा, दोनों के सदस्य रहेंगे।

(२०) व्यय का विवरण (हिसाब) समय समय पर अन्तरङ्ग सभा में और प्रतिवर्ष सङ्घ में उपस्थित हुआ करेगा।

(२१) दो अथवा दो से अधिक सङ्घ, अपना एक प्रतिनिधि सङ्घ बना सकेंगे, इसी प्रकार प्रदेश भर के सङ्घों का एक प्रादेशिक प्रतिनिधि सङ्घ भी बन सकेगा। अपने अपने उपनियम वे सब सङ्घ स्वयं बनायेंगे।

(२२) नियम और उपनियमों का परिवर्तन तीन चौथाई सङ्घ के सदस्यों की सम्मति और एक मास के पीछे विचारपूर्वक दी गई पुनः सम्मति से हो सकेगा।

नमो नमो धर्मार्थवित् सूक्ष्म-थूल-स्वरूप।
न्यायशील करुणार्द्रहृद् निर्विकार सद्रूप॥ १॥
अब निर्बल सब विध हुई, हिंदुजाति तव नाथ।
निज तनु-बल नहि उठ सके, देहि अनुग्रह-हाथ॥२॥

---

१ से १९ पृष्ठ तक "बाम्बे मैशीन प्रेस" लाहौर में छपा।

"हिन्दुजातिका परम धर्म"

प्रथम प्रपाठक ।

"संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।
संज्ञानमश्विना ! युवमिहास्मासु नियच्छतम्" ॥

(अथर्व० ७।४।१) ।

अर्थ—हे अश्वियो अर्थात् हे भारतमाता और पिता द्यौ ! * आप हमें अपनों के साथ अर्थात् शूद्र से ब्राह्मण पर्य्यन्त सब हिन्दुओं के साथ समान विचार अर्थात् ऐक्यमत्य दें, आप हमें अरणों के साथ अर्थात् जिनके धार्मिक साहित्य का मूलस्रोत साक्षात् अथवा परम्परा से संस्कृत भाषा नही, उन मुसलमान-ईसाई आदि देशभाईओं के साथ समान विचार दें। आप हमारे माता, पिता, भैन, भाई, पुत्र, पौत्र, पति, पत्नी और सेवकों में समान विचार दें ॥ १ ॥

**स्वदेशजात्यै हितमादिशद्भिः कथं विधेयं चरितं निजस्य ।
प्रादर्शि तद् येन महात्मना तं गोविन्दसिंहं गुरुमाश्रयामः ॥१॥**

---

* "द्यावापृथिव्यावित्येके"=एक आचार्य्य यह कहते हैं कि पृथिवी और द्यौ का नाम अश्वी है (निरु० १२।१) "द्यौर्वः पिता पृथिवी माता"=द्यौ तुह्मारा पिता और पृथिवी तुह्मारी माता है (ऋ० १।१६१।१) ।

अर्थ—अपने देश और अपनी जाति के हित का उपदेश करनेवालों ने आप कैसा आचरण करना चाहिये। वह (जैसा चाहिये वैसा आचरण) स्वयं कर के देखा दिया है जिस महात्मा ने, हम उस महामन श्री १०८ गुरु 'गोविन्दसिंह'जी का आश्रय लेते हैं ॥ १ ॥

सूत्र—"अपने को हिन्दु और सब हिन्दुओं को अपना भाई मानना, और आपस में सर्वदा सर्वत्र नियमपूर्वक समभाव का वर्ताव करना, प्रत्येक हिन्दु का परम धर्म है" ॥ १ ॥

भाष्य—वर्तमान काल में जो मनुष्यजाति (मनुष्यसमुदाय) हिन्दु नाम से कही और समझी जाती है, वह धार्मिक-दृष्टि से जिस का उल्लेख आगे किया जायगा, आर्य्यजाति होने पर भी वास्तविक-दृष्टि से केवल आर्य्यजाति नही, उसमें आर्य्यजाति के अतिरिक्त दूसरी अनेक मनुष्यजातियें (मंगोल, द्रविड, कोल, भिल्ल, पुक्कस आदि) भी सम्मिलित हैं, और उनकी संख्या आर्य्यजातिकी संख्या से अधिक न हो, तो न्यूनभी नही मानी जा सकती, क्योंकि भारतवर्ष (भारतदेश) के "पंजाब" आदि प्रदेशों में आर्य्यजातिकी संख्या अन्य जातियों की संख्या से अधिक जैसे निर्विवाद है, वैसे नेपाल, बंगाल, आसाम, उत्कल, कर्णाटक, आदि प्रदेशोंमें अन्य जातियों की संख्या भी आर्य्यजाति की संख्या से अधिक निर्विवाद सर्वसम्मत है। जिस हिन्दुजाति में आर्य्यजाति के अतिरिक्त अन्य अनेक मनुष्यजातियें सम्मिलित हैं, और उन की संख्या आर्य्यजाति की संख्या से किसी प्रकार भी न्यून नही, उसके लिये आर्य्य-नाम पर्य्याप्त (पूरा) नही, अपर्य्याप्त (अधूरा) है। जो नाम अपने नामी को दूसरों से अलग करता और उसमें (अपने नामी में) अनेकविध लौकिक तथा शास्त्रीय व्यवहार के बनाने अर्थात् सिद्ध करने में समर्थ होता है, उस को पर्य्याप्त नाम कहते हैं। ऐसा नाम वही हो सकता है, जो अपने नामी में अनुगत अर्थात् व्याप्त हो कर रहे और उस के सिवा किसी दूसरे को न कहे। आर्य्य-नाम ऐसा नही। वह अपने नामी हिन्दुजाति के सिवा दूसरी अनेक जातियों को कहता और हिन्दुजाति के एक भाग (आर्य्यभाग) में व्याप्त होकर रहने पर भी समस्त हिन्दुजाति में

व्याप्त होकर नही रहता। उदाहरण के लिये यहां भूमिमण्डल की सब जातियोंकी चर्चा आवश्यक नही, भारतभूमि में ही ऐसी अनेक मनुष्य-जातियें निवास करती हैं, जो आर्य्यजाति में से हैं और हिन्दु नही, और ऐसी भी अनेक हैं, जो आर्य्यजाति में से नही और हिन्दु हैं। जब आर्य्य नाम अपने नामी समस्त हिन्दुजाति में व्याप्त होकर नही रहता और उस के सिवा दूसरी अनेक जातियों को भी कहता है, तब वह समस्त हिन्दु-जातिके लिये पर्य्याप्त नाम कदापि नही माना जा सकता। इसको यों समझनेमें सुविधा होगी कि सर्वदा सर्वत्र दो प्रयोजनों के लिये नाम-करण संस्कार किया जाता है एक—दूसरों से अलग करने के लिये, दूसरा—आ जा, पढ सुन, खा पी, इत्यादि लौकिक तथा शास्त्रीय व्यवहार सिद्धि के लिये। जिस नाम से उक्त दोनों प्रयोजन सिद्ध नही होते, वह किसी काल में भी मानने योग्य नही, और नहीं उसका मानना विद्वद्गोष्ठी में (पण्डितमण्डलीमें) प्रशंसनीय समझा जाता है। आर्य्य नाम से उक्त दोनों प्रयोजन किसी काल में भी सिद्ध नही हो सकते, क्योंकि वह समस्त हिन्दुजाति में व्याप्त होकर न रहने से उसको अन्य-जातियों से अलग नही कर सकता और हिन्दुजाति के सिवा दूसरी अनेक जातियों का कहनेवाला होनेसे उसमें (समस्त हिन्दुजाति में) अनेक-विध लौकिक तथा शास्त्रीय व्यवहार का साधक भी नही हो सकता। इसलिये समस्त हिन्दुजाति के लिये 'आर्य्य'नाम पर्य्याप्त नही, और पर्य्याप्त न होने से उसका मानना भी उचित नही।

पीछे 'आर्य्य'नाम में जो दो दोष कथन किये हैं अर्थात् एक अव्याप्ति (समस्त हिन्दुजाति में व्याप्त हो कर न रहना) और दूसरा व्यभिचार (हिन्दुजाति के सिवा दूसरी जातियों को भी कहना), वे दोनों दोष "हिन्दु"नाममें नही हैं, क्योंकि वह हिन्दुजाति के सिवा किसी दूसरी जाति को नही कहता और ब्राह्मण से चण्डाल (अन्त्यज) पर्य्यन्त समस्त हिन्दुजाति में व्याप्त होकर रहता है। अतएव वह अपने नामी समस्त हिन्दुजाति को दूसरी सब जातियों से अलग करने और उसमें नानाविध लौकिक तथा शास्त्रीय व्यवहार के सिद्ध करने (बनाने) में पूर्णतया समर्थ है। इससे स्फुट है कि जैसा हिन्दुनाम निर्दोष तथा

सप्रयोजन होने से हिन्दुजाति के लिये उपयुक्त तथा पर्य्याप्त है, वैसा "आर्य्य"नाम नही।

शास्त्रमें मुख्यरूपसे तीन प्रकारके नाम माने जाते हैं—एक जातिनाम, दूसरे क्रियानाम, तीसरे गुणनाम। "आर्य्य"जातिनाम माना जाये अथवा वर्तमान रूढि के अनुसार गुणनाम, दोनों प्रकारसे उसका मूल्य "हिन्दु"नाम के मूल्य से बहुत अल्प है। इसका कारण यह है कि हिन्दु नाम की प्रवृत्तिमें निमित्त जो "देशसम्बन्ध" वह अन्य सब नामों की प्रवृत्तिमें जाति, क्रिया, आदि जितने निमित्त शास्त्रसम्मत हैं, उन सबकी अपेक्षा बहुमूल्य है। उस के बहुमूल्य होने में प्रधान हेतु तीन हैं। **प्रथम** हेतु यह है कि जात्यन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के साथ देश-सम्बन्ध औत्पत्तिक (जन्मसिद्ध) और गुणसम्बन्ध औत्पत्तिक नही, किन्तु नैमित्तिक है। औत्पत्तिक और नैमित्तिक, दोनों में औत्पत्तिक अवश्यम्भावी होता है, और नैमित्तिक अवश्यम्भावी नही, यह सार्वत्रिक नियम है। पिता का जिस देश के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध है, उसके पुत्रका भी उस देशके साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध प्रत्यक्ष है। इसका दूसरा कोई कारण नही, यही एक कारण है कि देशसम्बन्ध औत्पत्तिक होनेसे अवश्यम्भावी है, वह किसी प्रकार भी पुत्र में हुए विना नही रह सकता। परन्तु गुणसम्बन्ध ऐसा कहीं प्रत्यक्ष नही। पिता में आर्य्यत्व के सम्पादक जो गुण विद्यमान हैं, जिन गुणों की विद्यमानता से पिता आर्य्य कहा और माना जा सकता है, वे सब गुण पुत्र में नियम से सर्वत्र नही देखे जाते। यदि गुणसम्बन्ध भी देशसम्बन्ध के समान औत्पत्तिक होता, तो पिता के वे सब गुण पुत्रमें अवश्यमेव सर्वत्र देखे जाते। सर्वत्र देखे न जानेसे स्पष्ट है कि देशसम्बन्ध के समान गुणसम्बन्ध औत्पत्तिक नही।

पुत्र में जो गुणों का सम्बन्ध पाया जाता है, यदि उसका (गुणोंके सम्बन्धका) कारण केवल पुत्र का पूर्व कर्म ही होता, अथवा केवल माता पिता का गुणसमूह ही कारण होता, तो अवश्य वह देशसम्बन्ध के समान औत्पत्तिक माना जाता। परन्तु उसका कारण केवल पुत्र का पूर्व कर्म ही नही, और नही केवल मातापिता का गुणसमूह ही कारण है, किन्तु माता, पिता तथा आचार्य्य की शिक्षा, सज्जनों का समागम और

अपना विशेषतया प्रयत्न भी कारण है। इसलिये जहां कहीं पुत्रमें पिताके प्रायः वे सब गुण देखे जाते हैं, वहांभी गुणसम्बन्ध उत्पत्तिमात्र-साध्य न होनेसे देशसम्बन्ध के समान औत्पत्तिक नही, किन्तु उत्पत्ति से पूर्वभावी तथा पश्चाद्भावी आन्तर बाह्य अनेक-साधन-साध्य होने से नैमित्तिक है। औत्पत्तिक और नैमित्तिक, दोनों के सन्निधान में औत्पत्तिक अवश्यम्भावी होने से बहुमूल्य और नैमित्तिक अवश्यम्भावी न होने से औत्पत्तिक की अपेक्षा अल्पमूल्य सर्वसम्मत है, अधिक विस्तार अपेक्षित नही।

दूसरा हेतु यह है कि देशसम्बन्ध अनिवर्त्य और गुणसम्बन्ध अनिवर्त्य नही, किन्तु सर्वथा निवर्त्य है। निवृत्तियोग्य अर्थात् निवृत्त होने वाले को "**निवर्त्य**" और जो निवृत्तियोग्य नही अर्थात् निवृत्त होनेवाला नही, उसको "**अनिवर्त्य**" कहते हैं। शास्त्र तथा लोक, दोनों में जितने सम्बन्ध सुप्रसिद्ध हैं, उन सबमें पितापुत्रसम्बन्ध का मूल्य सब से अधिक है, क्योंकि एक तो वह औत्पत्तिक है, दूसरा पितृऋण से मुक्ति और जरा अवस्था में आने वाले दुःखों से रक्षा का साधन होनेसे पिताको पुत्र इष्टतम है। उत्पन्न हुआ पुत्र पिता की पितृऋण से मुक्ति और जराअवस्था में आनेवाले दुःखों से सेवा शुश्रूषा आदि के द्वारा रक्षा करता है, यह पुत्र नाम के निर्वचन (अर्थ) से सिद्ध है। निर्वचन यह है—

"यः पुनाति यः त्रायते स पुत्रः"।

अर्थ—जो पवित्र करता अर्थात् पितृऋण से मुक्त करता है, जो बचाता अर्थात् वृद्धावस्था में आनेवाले दुःखों से रक्षा करता है, वह पुत्र है। निरुक्तकार "**यास्क**" मुनि का निर्वचन ऊपर के निर्वचनसे कुछ विलक्षण है। उसका आकार इसप्रकार है—

"पुत्रः-पुरु त्रायते, निपरणाद्वा, पुत् नरकं, ततस्त्रायत इति वा" (नि० २।११)।

अर्थ—"पुत्र" इसका नाम इसलिये है कि बहुत बचाता है दुःखोंसे १ अथवा देने से (देने अर्थवाले पृ धातु से), पितरोंको देता है जल २ अथवा पुत्=नरक, जो पितृऋण न चुकानेसे होता है, उससे बचाता है।

"**मनुस्मृति**" के नवमें अध्याय में जो पुत्र नाम का निर्वचन किया है, वह

६. पितापुत्रसम्बन्ध के निवर्त्य होने में ब्राह्मण का उदाहरण । प्रथम-

यास्कमुनि के अन्तिम निर्वचन से मिलता है। उसका स्वरूप एवंरूप है—

"पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा" ॥ १३५ ॥

अर्थ—उत्पन्न हुआ पुत्र जिसलिये "पुत्" नामी नरक से बचाता है पिताको। इसलिये उसका नाम "पुत्र" स्वयं ब्रह्मा ने कहा है ॥ १३५ ॥

"ऐतरेयब्राह्मण" में राजा हरिश्चन्द्र से नारद मुनि ने जो पुत्र के इष्टतम होने का हेतु कथन किया है, उस का आकार एवं प्रकार है—

"यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि ।
यावन्तोऽप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितुस्ततः" ॥
(ऐ० ब्रा० ३३।२)।

अर्थ—पृथिवीलोक, द्युलोक और अन्तरिक्षलोक, इन तीनों लोकों में जितने सुखसम्भोग मनुष्य को हो सकते हैं, उससे बहुत अधिक पुत्र में पिता को होते हैं, इसलिये पिता को पुत्र इष्टतम है ॥ २ ॥

पुत्र के अतिरिक्त स्त्री, गुरु, राजा, जो जो व्यवहार-सिद्धि के लिये अपेक्षित हैं, वे सब इष्ट होने पर भी पुत्र के समान इष्टतम नहीं, और नहीं उन का पुरुष, शिष्य तथा प्रजा के साथ सम्बन्ध पितापुत्रसम्बन्ध के समान औत्पत्तिक है। इसलिये स्त्रीपुरुषसम्बन्ध, गुरुशिष्यसम्बन्ध, राजप्रजासम्बन्ध, जितने सुप्रसिद्ध सम्बन्ध हैं, उन सब की अपेक्षा पितापुत्रसम्बन्ध का मूल्य अधिक होना उचित है। परन्तु देशसम्बन्ध की अपेक्षा उसका मूल्य अधिक नही हो सकता, और नही वह देशसम्बन्धके समान बहुमूल्य कहा जा सकता है, क्योंकि अन्य सब सम्बन्धों के समान वह (पितापुत्रसम्बन्ध) भी निवर्त्य है, देशसम्बन्ध के समान अनिवर्त्य नही। जैसे स्त्रीपुरुषसम्बन्ध, गुरुशिष्यसम्बन्ध, राजप्रजासम्बन्ध, किसी निमित्त-विशेष के उपस्थित हो जाने पर अपने जीवन में ही सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, वैसे पितापुत्रसम्बन्ध भी सर्वथा निवृत्त हो जाता है। "ऐतरेय-ब्राह्मण" में उल्लिखित "विश्वामित्र" पिता और उसके पचास ५० बडे पुत्रों तथा "अजीगर्त" पिता और उसके मझले "शुनःशेप" पुत्रका पितापुत्रसम्बन्ध इसका उज्वल उदाहरण है। गुणसम्बन्ध तो पितापुत्र-

सम्बन्ध की अपेक्षा नितान्त सुकुमार है, उस का प्राकृत चञ्चल अन्तःकरण में सर्वदा एकरस अवस्थान कदापि नही हो सकता । यही कारण है कि अनेक मनुष्य अपनी एक अवस्था में सद्गुणसम्पन्न हुए दूसरी अवस्था में विपरीत-गुणान्वित देखे जाते हैं। इसी अभिप्राय से "वेद-व्यास" मुनिने योगसूत्रों के भाष्य में कहा है कि "चलं हि गुणवृत्तम्"= गुण से यहां सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण-रूप प्रकृति अभिप्रेत है, गुणमय पदार्थों अर्थात् प्राकृत पदार्थों का स्वभाव चञ्चल है, एक रस नही । परन्तु देशसम्बन्ध के विषय में ऐसा कोई उदाहरण उपलब्ध नही, जिस के बल से वह भी गुणसम्बन्ध के समान सर्वथा निवर्त्य माना जा सके ।

मनुष्य बलपूर्वक अपने देश से परदेश (विदेश) भेजा जाता है, अथवा स्वयं आजीविका-वश अपने देश से विदेश चला जाता है, और वहां सुखपूर्वक निवास करता तथा जीवनदिनों को आनन्दपूर्वक बिताता है, तौ भी वह अपने पैतृक देश को नही भूलता, उसके मन में उस का सम्बन्ध ज्यूं का त्यूं बना रहता है । अतएव वह समय समय पर अपने इष्ट मित्रों से उसकी चर्चा करता और प्रेम से गद्गद-वाणी हुआ उसके गुणों को अनेक प्रकार से बखानता, तथा अवसर प्राप्त होने पर सब कार्य्योंको छोड परम उत्साह से वापस अपने देश में आ जाता है । इसका क्या कारण? दूसरा कोई कारण नही, यही एक कारण है कि गुण-सम्बन्धके समान देशसम्बन्ध निवर्त्य नही, किन्तु सर्वथा अनिवर्त्य है। निवर्त्य और अनिवर्त्य, दोनोंमें निवर्त्य का मूल्य अल्प और उस की अपेक्षा अनिवर्त्य का मूल्य अधिक निर्विवाद सर्वसम्मत है । इसलिये विशेष विस्तार की आवश्यकता नही ।

तीसरा हेतु यह है कि मनुष्य को अपनी जीवनयात्रा के सुखपूर्वक निर्वाह के लिये देशसम्बन्ध आवश्यक होने से इष्टतम और गुणसम्बन्ध आवश्यक न होने से इष्टतम नही । मनुष्य गुणवान् हो अथवा निर्गुण, उस की जीवनयात्रा का सुखपूर्वक निर्वाह यथेष्ट उपभोग्य पदार्थों की प्राप्ति पर निर्भर है, और यथेष्ट उपभोग्य पदार्थों की प्राप्ति उसी मनुष्य को हो सकती है, जिसका अपने देश के साथ सम्बन्ध विद्यमान है। जिस मनुष्य का सम्बन्ध अपने देश के साथ विद्यमान नही, उस को यथेष्ट

उपभोग्य पदार्थों की प्राप्ति कदापि नही हो सकती, और यथेष्ट उपभोग्य पदार्थों की प्राप्ति न हो सकने से उस की जीवनयात्रा का सुखपूर्वक निर्वाह भी नही हो सकता। यही कारण है कि कारावासों में देशसम्बन्ध के विद्यमान न रहने के कारण यथेष्ट उपभोग्य पदार्थों की प्राप्ति न हो सकने से अनेक गुणवानों का जीवन कष्टमय हो जाता है, और उन में से अनेक उस कष्ट को न सह सकने से अपने प्राणों तक दे देते हैं। इस में सन्देह नही कि गुणों का सम्बन्ध मनुष्य-जीवन को उच्च, उच्चतर तथा उच्चतम बनाता है, परन्तु मनुष्य की जीवनयात्रा के निर्वाह में उस का कुछ उपयोग नही। अतएव वह कथञ्चित् इष्ट होने पर भी देशसम्बन्ध के समान इष्टतम नही। लोक तथा शास्त्र, दोनों में इष्ट की अपेक्षा इष्टतम का मूल्य बहुत अधिक माना जाता है। इसलिये गुणसम्बन्ध की अपेक्षा देशसम्बन्ध का मूल्य अधिक और देशसम्बन्ध की अपेक्षा गुणसम्बन्ध का मूल्य बहुत अल्प होना सर्वथा उचित है, किसी प्रकार भी अनुचित नही।

जिस देश का "भारत" नाम है, उस ही देश का भारत से भी प्राचीन "सिन्धु" नाम है। भारत नाम की प्रवृत्तिमें निमित्त राजा "भरत" और सिन्धु नाम की प्रवृत्ति में "पंजाब" देश की सुप्रसिद्ध महानदी "सिन्धु" निमित्त है। भारत नाम की प्रवृत्ति के समय भारतदेश (भारतवर्ष) की पूर्व तथा दक्षिण सीमा और सिन्धु नाम की प्रवृत्ति के समय उत्तर तथा पश्चिम सीमा बहुत बढी हुई थी। गन्धार, वैलस्थान (विलोचस्थान) आदि सुप्रसिद्ध देश "सिन्धु" देश के ही प्रदेश-विशेष माने जाते थे, जैसा कि वर्तमान समय में कश्मीर, नेपाल, आसाम, ब्रह्मा आदि प्रसिद्ध देश "भारतवर्ष" के प्रदेश-विशेष माने जाते हैं। सुप्रसिद्ध "देवासुरसङ्ग्राम" इसी सिन्धु देश के प्रदेश-विशेष "वैलस्थान" (विलोचस्थान) में हुआ था। देव और असुर, दोनों आर्य्य थे, और अपने "सिन्धु" देश में मिलकर रहते थे। दैववश आपस में मतभेद के कारण द्वेषानल इतना प्रचण्ड हो गया कि वे एकट्ठे न रह सके। और अन्त में कौरवपाण्डवों के समान परस्पर युद्ध के लिये सन्नद्ध (तैयार) हो गये। वैलस्थान (विलोचस्थान) की ऊपर भूमि में दोनों का घोर सङ्ग्राम हुआ। इस महायुद्ध में विजयलक्ष्मी देवों के हाथ आई और

पराजित हुए असुर सर्वदा के लिये देवों से अलग हो गये। "परुच्छेप" ऋषि ने अपने मन्त्रों में असुरों के पराजय का वर्णन इसप्रकार किया है—

"उभे पुनामि रोदसी ऋतेन, द्रुहो दहामि सं महीरनिन्द्राः। अभिव्लग्य यत्र हता अमित्रा वैलस्थानं परितृढा अशेरन्" ॥ (ऋ० १।१३३।१)।

अर्थ—हे इन्द्र! पवित्र करता हूं मैं अपनी मातृभूमि (सिन्धुदेश) और उसके ऊपर के द्युलोक, दोनों को यज्ञसे, और आग लगाता हूं तुझ इन्द्र से विमुख द्रोहियों की उन भूमियों को। जहां वे सब अमित्र (शत्रु) हम से अलग होकर चले गये और अन्तमें वैलस्थान में मारे जा कर हमेशा के लिये सो गये ॥ १ ॥

"अत्रासां मघवन्! जहि शर्धो यातुमतीनाम्।
वैलस्थानके अर्मके, महावैलस्थे अर्मके" ॥ (ऋ० १।१३३।२)।

अर्थ—हे मघवन् (धनवाले) इन्द्र! इस दस्युओं की मतिवाली असुरसेना को मार ऊषर-भूमि वैलस्थान में, इस अरमणीय महावैर के स्थान में ॥ २ ॥

देवों से पराजित हुए असुर "सुरात" (हरात) होते हुए "इरण" (ईराण) में राज्यव्यवस्था करके पश्चिम की ओर बढने लगे, और घर के झगडों से निवृत्त हुए देव अपने "सिन्धु" देश की पूर्व तथा दक्षिण दिशा में राज्यव्यवस्था के लिये शनैःशनैः प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार भूमिमण्डल में दोनों प्रकार के आर्यों का विस्तार हो जाने से उनके मूल पैतृक देश का "सिन्धु" नाम सर्वत्र सुप्रसिद्ध हो गया। हिन्दुजाति के पूर्वज आर्यों ने असुरों का पृथक् (अलग) राज्य स्थापन हो जाने से अपने देश का दूसरा नाम "आर्य्यावर्त" भी व्यवहार में लाना आरम्भ किया। परन्तु उसको (आर्य्यावर्त नाम को) असुरों और देवों, दोनों का सांझा नाम होने के कारण द्वेषी असुरों ने स्वीकार न किया। इसलिये वह "सिन्धु" नाम के समान सर्वत्र भूमिमण्डल में प्रसिद्ध न हुआ। अतएव मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने भी अपने मन्त्रों में हिन्दुजाति के मूल पैतृक-देश (भारतवर्ष) के

"सिन्धु" नाम का ही उल्लेख किया है "आर्य्यावर्त" नाम का नही। वेद में सिन्धु नाम के उल्लेखमन्त्र अनेक हैं, उनमें से एकमन्त्र यह है—

"अमन्दान् स्तोमान् प्र भरे मनीषा सिन्धावधिक्षियतो भाव्यस्य। यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः" ॥ (ऋ० १।१२६।१)।

अर्थ—मैं कक्षीवान् "सिन्धु" देश में अधीश्वर हो कर रहनेवाले भावयव्य के पुत्र "स्वनय" के उत्तम स्तोत्रों को अपनी बुद्धि से बनाता हूं। जिस यश चाहने वाले, जलदी न करनेवाले राजा ने मेरे अनेक सोमयज्ञ पूरे किये अर्थात् मुझ से अनेक सोम यज्ञ कराये ॥ १ ॥

"पंजाब" देश की जिस सुप्रसिद्ध महानदी "सिन्धु"के सम्बन्ध से हिन्दुजाति के मूल पैतृक देश (भारतवर्ष)का सब से प्राचीन सिन्धु नाम सर्वत्र भूमिमण्डल में सुप्रसिद्ध हुआ, मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने देशशोभा के लिये उसका वर्णन अपने मन्त्रों में अनेक प्रकार से किया है। उनमेंसे एक मन्त्र नीचे उद्धृत किया जाता है। उस का पाठ इसप्रकार है—

"अभि त्वा सिन्धो! शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः। राजेव युध्वा नयसि त्वमित् सिचौ यदासामग्रं प्रवतामिनक्षसि" ॥ (ऋ० १०।७५।४)।

अर्थ—हे सिन्धु! जैसे बच्चेके सम्मुख (साह्मने) आती हैं दूध पिलानेके लिये दूरसे शब्द करती हुई मातायें, अथवा पय (दूध)से भरी नवप्रसूता (नई ब्याई) गौएं, वैसे तेरे (तुझ बच्चे के) साह्मने आती हैं दूर से शब्द करती हुई पय (पानी)से भरी दोनों ओर की सात सात 'माता रूपी, नदियें। अथवा तू ही युद्ध करनेवाले राजा के समान साथ लेता है दोनों ओर से दो सैन्यदलों को, जब इन चलने वालियों का अगुआ होकर चलता है दूसरे देश के लिये ॥ ४ ॥

"सिन्धु" नदी के सम्बन्ध से सर्वत्र भूमिमण्डल में सुप्रसिद्ध "सिन्धु" देश में आरम्भकाल से राजा हो कर रहने तथा राजसन्तान होने से हिन्दुजाति के पूर्वपुरुष आर्य्यों का नाम भी "सिन्धु" सर्वत्र भूमिमण्डल में

प्रसिद्ध हो गया, और निष्प्रतिबन्ध (विना रोक टोक) लोकव्यवहार तथा लेखव्यवहार में आने लगा। हिन्दुजाति के पूर्वपुरुष आर्य्यों ने भी देशसम्बन्धी होने के कारण इस बहुमूल्य "सिन्धु" नाम का अपनी विजयपताका के साथ साथ सब देशों में प्रसार किया, और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने इस परम पवित्र गौरवान्वित "सिन्धु" नाम का यथावसर अपने मन्त्रों में उल्लेख किया। उदाहरणार्थ नीचे केवल "जेता" ऋषि का एक मन्त्र उद्धृत किया जाता है—

"तवाहं शूर! रातिभिः प्रत्यायं सिन्धुमावदन्।
उपातिष्ठन्त गिर्वणो विदुष्टे तस्य कारवः"॥ (ऋ० १।११।६)।

अर्थ—हे शूर इन्द्र! मैं आपके दानों अर्थात् बखशशों से आकर्षित हुआ, वापस आता हूं अपने को "सिन्धु" कहता हुआ। हे गिर्वण! (स्तुतियोंसे सेवनीय!) उपस्थित (हाजिर) हों मेरी तरह दूसरे भी कारु (स्तोत्रोंके बनानेवाले ऋषी), और जानें वे उस आप को अर्थात् आप के उन उन दानों को ॥ ६ ॥

"ऐतरेयब्राह्मण" में लिखा है कि "विश्वामित्र" ऋषि के एकसौ एक १०१ पुत्र थे। उनमें पचास ५० मधुच्छन्दा से बडे और पचास ५० छोटे थे। विश्वामित्र ऋषि ने आज्ञाभङ्ग दोष के कारण बडे पुत्रों से अपना पितापुत्रसम्बन्ध सर्वदा के लिये तोड लिया, और वे सब दस्युओं में जा मिले। मधुच्छन्दा ऋषि का पुत्र जेता भी उन्हीं के साथ चला गया था। परन्तु आर्य्यों से बाहर दस्युओं में रहना उसको पसन्द न आया, और वापस आ गया। वापस आये हुए जेता ऋषि ने इन्द्र देवता के समक्ष (साह्मने) अपना यह मन्त्र (उदाहृत मन्त्र) उपस्थित करके "मैं दस्यु नहीं हूं, सिन्धु हूं, मुझे आप पूर्ववत् अपना सेवक समझें, और अनुग्रह करें, जिससे दूसरे ऋषिपुत्र भी आपकी सेवकाई के लिये वापस आयें" यह अपना आशय प्रकट किया है। "वसिष्ठ" ऋषि अपनी दयालुता के कारण दस्युओं से बहुत मेल जोल और आन्तरिक सहानुभूति रखते थे। विपक्षियों ने उनको दस्यु और आर्य्यों को कष्ट देनेवाला कहना आरम्भ कर दिया। वसिष्ठ ऋषि ने अपने इस

मिथ्या अपवाद की निवृत्ति के लिये शपथपूर्वक इन्द्र देवता से जो यह निवेदन किया है कि "मैं यातुधान (दस्यु) नही हूं, अयातुधान (आर्य) हूं," उस से जेता ऋषि के "मैं दस्यु नही हूं, सिन्धु हूं," इस निवेदन की पुष्टि होती है, क्योंकि दोनों के निवेदन की शैली एक है। वसिष्ठ ऋषि का शपथपूर्वक निवेदन–मन्त्र यह है—

"अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि, यदि वाऽऽयुस्ततप पूरुषस्य। अधा स वीरैर्दशभिर्वियूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह" ॥ (ऋ० ७।१०४।१५)

अर्थ—आज ही मरूं, यदि मैं यातुधान हूं, अथवा यदि मैंने किसी पुरुष की आयु को तपाया अर्थात् किसी पुरुष (आर्य) को कष्ट दिया है। अथवा वह अपने दसों पुत्रों से वियुक्त हो अर्थात् उसके दसों पुत्र मर जायें, जो मुझे मिथ्या यातुधान 'और दूसरों को कष्ट देनेवाला, कहता है। मन्त्रों में यातु और यातुधान, दोनों शब्द दस्युओं के लिये आते हैं जादूगर अर्थ में ॥ १५ ॥

वर्तमान हिन्दुजाति के पूर्वपुरुष प्रायः हकार के स्थान में भकार और हकार, रेफ के स्थान में लकार और रेफ तथा सकार के स्थान में हकार और सकार उच्चारण किया करते थे। उच्चारण करने का दूसरा कोई कारण नही था, उस समय की उच्चारण–पद्धति ही ऐसी थी। वास्तव में जीवित भाषा का लक्षण यही है कि जो वर्ण अथवा शब्द जहां और जैसा उच्चारण किया जाये, वह सब उसमें साधु माना जाये और लोकव्यवहार तथा शास्त्रीय–व्यवहार, दोनों में प्रयोगार्ह समझा जाये। मन्त्रकाल में हिन्दुजाति के पूर्वज आर्यों के समान उन की भाषा भी जीवित थी। इसलिये उसमें दो प्रकार से किया गया वर्णोच्चारण किसी प्रकार भी असमीचीन नही कहा जा सकता। जैसे हकार के स्थान में भकार और हकार, तथा रेफ के स्थान में लकार और रेफ उच्चारण करने के "गृभ्णामि" (अथर्व० ३।८।६) "गृह्णामि" (अथर्व० ३।२९।७) "जठलस्य" (ऋ० १।१८२।६) "जठरस्य" (ऋ० १।११२।१७) इत्यादि अनेक उदाहरण वेदमन्त्रों में पाये जाते हैं, वैसे सकार के स्थान में हकार और

सकार उच्चारण करने के अनेक उदाहरण भी वेदमन्त्रों में पायेजाते हैं। उनमेंसे एक उदाहरण–मन्त्र नीचे उद्धृत किया जाता है—

"अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः" ॥ (अथर्व० ११७१)

अर्थ—वह जो चल रही हैं (वह रही हैं) लाल वस्त्रोंवाली (लहूसे भरी) नाडीरूपी स्त्रियें। यह भ्रातृहीन भैनों (जिनके भाई नही हैं, उन भैनों)की न्याईं हततेज हुईं ठहरी रहें ॥ १ ॥

यही मन्त्र कुछ पाठभेद से दूसरी शाखा में इसप्रकार पढा है—

"अमूर्या यन्ति जामयः सिरा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः" ॥ (अथर्व० १।७।१)

अर्थ—वह जो लाल वस्त्रों वाली नाडीरूपी भैनें (स्त्रियें) चल रही है (लहूसे भरी वह रही हैं)। यह भ्रातृहीन स्त्रियों (भैनों) की न्याईं बन्दमार्गवाली हुई ठहरी रहें ॥ १ ॥

निरुक्तकार "यास्क" मुनि ने यही शाखान्तरीय मन्त्र प्रसंगतः "**निरुक्त**" अ० ३ खं० ४ में उद्धृत किया है। परन्तु आजकल उसमें **सिराः** के स्थानमें **सर्वाः** पाठ लिखा तथा पढा जाता, और उसका अर्थ "**सारी नाडीयें**" किया जाता है। यह बडी भूल है, क्योंकि नाडी–वाची पद न रहनेसे "सारी नाडियें" अर्थ नही हो सकता। दूसरा "**लोहित-वाससः**" विशेषण देने से प्रतीत होता है कि नाडियों को यहां स्त्रियें कल्पना किया है, और वह तब ही सङ्गत हो सकता है, जब "**जामयः**" पद से नाडीवाची पद अलग हो। "जामयः" पद का ही नाडियें अर्थ करना और भी भूल है। तीसरा यह मन्त्र नाडीरोग (प्रदररोग) की निवृत्ति के लिये प्रयुक्त और विनियुक्त हुआ है। उसमें नाडीवाची पद न रहनेसे प्रयोग और विनियोग, दोनों असमञ्जस हो जाते हैं, यह ठीक नही। इसलिये इस भूल को सुधार लेना चाहिये और आगे ध्यानपूर्वक "**सर्वाः**"के स्थानमें "**सिराः**" पाठ छापने तथा छपवाने का यत्न करना चाहिये।

कक्षीवान् ऋषिने अपने मन्त्रों में सादृश्य-कल्पना से नदियों में नाडी-वाची "सिरा" शब्दका प्रयोग किया है। प्रयोगमन्त्र यह है—

"अनु त्वा मही पाजसी अचक्रे द्यावाक्षामा मदता-मिन्द्र! कर्मन्। त्वं वृत्रमाशयानं सिरासु महो वज्रेण सिष्वपो वराहुम्" ॥ (ऋ० १।१२१।११)।

अर्थ—हे इन्द्र! वृत्रयुद्ध में प्रवृत्त हुए आप का अनुमोदन करते हैं महान्, बलवान् तथा सर्वत्र विद्यमान द्युलोक और पृथिवीलोक, दोनों। इसलिये कि आपने सर्वत्र फैले हुए जलाहारी वृत्र (मेघ) को अपने तेजस्वी वज्र से मार कर चिरकाल के लिये पृथिवी की नाडियों अर्थात् नदियों में सुला दिया ॥ ११ ॥

निरुक्त के कर्ता "यास्क" मुनि ने "निघण्टु" नाम का निर्वचन (अर्थ) करते हुए लिखा है कि "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः"=गौ से लेकर देवपत्न्यः पर्यन्त जितने शब्द हैं, वे सब ज्यूं के त्यूं छन्दों अर्थात् वेदमन्त्रों से चुन चुन कर सङ्ग्रह किये गये हैं, इसलिये इन को निघण्टु कहते हैं। "निघण्टु"के कर्ता राजर्षि "कश्यप"ने नदीनामों का सङ्ग्रह करते हुए उनमें "हरितः सरितः, सरस्वत्यः हरस्वत्यः" (निघ० १।१३) नामों का उल्लेख किया है। पूर्वोदाहृत हिरा-सिरा-मन्त्रों और निघण्टु में सङ्ग्रह किये गये हरितः सरितः आदि नदीनामों के देखने से निश्चित होता है कि मन्त्रकाल में हकार के स्थान में भकार और हकार के समान, रेफ के स्थान में लकार और रेफ के समान, सकार के स्थान में हकार और सकार उच्चारण करने की पद्धति वर्तमान थी, या यों कहो कि हकार आदि के समान सकार के स्थान में हकार और सकार उच्चारण करने का रिवाज आम था। बस इसी मन्त्र-कालीन वर्णोच्चारण-पद्धति या आम रिवाज के अनुसार हिन्दुजाति के पूर्वपुरुष आर्य्य अपने को "सिन्धु" नाम के स्थान में प्रायः "हिन्दु" कहते थे, और इसी से क्या स्वदेश क्या परदेश, सर्वत्र "हिन्दु" प्रसिद्ध थे।

संस्कृत भाषा के व्याकरणानुसार देशवाची "सिन्धु"शब्द से आगे "द्यच्" (अष्टा० ४।१।१७०) सूत्र से "तद्राज" नामक 'अण्=अ,

प्रत्यय आ कर और "तद्राजस्य" (अष्टा० २।४।६२) सूत्र से छान्दस नाम (वैदिक नाम) होने के कारण, एकवचन, द्विवचन और बहुवचन, तीनों वचनों में उक्त प्रत्यय का लुक् (निवृत्ति) हो कर सिद्ध हुए "सिन्धु" नाम का अर्थ "सिन्धु-देश का राजा" होता है, वही "हिन्दु" नाम का अर्थ है अर्थात् "भारतवर्ष का राजा"। वर्तमान हिन्दुजाति के पूर्वपुरुष आर्य्यों ने अपने सच्चरित्र, देशविजयी शौर्य्य, लोकोत्तर वीर्य्य तथा सिंहोपम पराक्रम और सर्वोत्तम राज्यशासन क्रम से अपने इस परम पुनीत, अति बहुमूल्य "हिन्दु" नाम की महिमा और प्रतिष्ठा को इतना बढा दिया था कि प्रत्येक हिन्दु समस्त भूमिमण्डल में जहां कहीं चला जाता, वहां सर्वत्र बहुत सन्मानपूर्वक भारतवर्ष का राजा कहा और माना जाता।

जैसे "संस्कृत" भाषा के व्याकरण में निवृत्त हुआ प्रत्यय भी विद्यमान प्रत्यय के समान अपने अर्थ को कहता है, वैसे "पारसी" भाषा के व्याकरण में नहीं। इसलिये पारसी भाषा के विद्वानों ने पारसी भाषा के व्याकरणानुसार "हिन्दु" नाम के "उ" वर्ण को निवासार्थक प्रत्यय मान कर पारसी भाषा के कोषों में "हिन्दु" नाम का अर्थ "हिन्द का रहनेवाला" अर्थात् "भारतवर्ष का निवासी" अर्थ लिखा है। संस्कृत भाषा में तद्राज-प्रत्ययान्त होने से "भारतवर्ष का राजा" और पारसी भाषा में निवासार्थ प्रत्ययान्त होने से "भारतवर्ष का रहनेवाला" यह दोनों भाषाओं के व्याकरणानुसार "हिन्दु" नाम के अर्थ का स्वरूप है।

पारसी भाषा के व्याकरण में "उ" के समान "ई" को भी निवासार्थक प्रत्यय स्वीकार किया है। इससे पारसी भाषा में जो "हिन्दु" नाम का अर्थ है, वही "हिन्दी" नाम का अर्थ होता है, दोनों में यत्किञ्चित् भी अर्थभेद नहीं। परन्तु वर्तमान काल में अनादि वंशपरम्परा-प्राप्त होने के कारण समस्त हिन्दुजाति की पैतृक-सम्पत्ति हो जाने से "हिन्दु" नाम का प्रयोग समस्त हिन्दुजाति के लिये और हिन्दु, पारसी, मुसलमान, ईसाई आदि भारतवर्ष-निवासी समस्त जातियों के लिये "हिन्दी" नाम का प्रयोग किया जाता है, यह विशेष है।

जैसा साम्प्रदायिक मतभेद-वाद इससमय हिन्दुजाति में देखा जाता

है, वैसा पूर्वकाल में नही था। इसका कारण यह है कि पूर्वकाल में अवान्तर अनेकविध भेद रहने पर भी धर्मपुस्तक एक था। यह धर्मपुस्तक-भेद भगवान् "बुद्ध"से आरम्भ हुआ, और धीरेधीरे समस्त हिन्दु-जाति में फैल गया। इससे हिन्दुजाति की चिरकालागत बन्धनरज्जु परस्पर की खेंच से टूट गई और उस के टूट जाने से हिन्दुजाति को बडा भारी धक्का लगा और उससे अशक्त हुई वह धडक मुंह भार गिर गई। पीछे समय समय पर अनेक महापुरुषों ने उस के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया, परन्तु वह सफल न हुआ और उस से हिन्दुजाति की टूटी फूटी बन्धनरज्जु आगे से भी अधिक उलझन में पड गई, और उस (हिन्दु जाति)के छोटेछोटे अनेक विभाग हो गये, जिससे उसकी रही सही शक्ति भी मापे से अधिक क्षीण हो गई। वास्तव में धर्मपुस्तक का एक होना ही जाति के लिये दृढ बन्धनरज्जु है, जिस का एक होना इस समय हिन्दु-जाति के लिये सर्वथा असम्भव नही, तो अशक्य अवश्य है। धर्मपुस्तक का भेद हो जाने से साम्प्रदायिक मतभेद-वाद बहुत बढ गया और उसके बहुत बढ जाने से हिन्दुजाति किस को कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देना नितान्त कठिन हो गया। जैसे "मुसलमान" किस को कहते हैं? "ईसाई" किस को कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर एक छोटे से लक्षण से बडी सुगमता के साथ दिया जा सकता है, वैसे "हिन्दुजाति" किस को कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर एक छोटे से लक्षण से बडी सुगमता के साथ नही दिया जा सकता। उसका उत्तर देने के लिये कुछ विचार करने की आवश्यकता है। अनेक विचारशील बुद्धिमानों का मत है कि "**जिस के सिर पर चोटी (शिखा) और जिस का अग्निदाह संस्कार होता है, उस को हिन्दु और ऐसे हिन्दुओं के समुदाय-विशेष को हिन्दुजाति कहते हैं**"। यह लक्षण हिन्दुसंन्यासियों में अव्याप्त है, क्योंकि उनका अग्निदाह संस्कार नही होता और नही वे सिर पर चोटी रखते हैं। पूर्वाचार्य्यों का मत है कि "**जो ईश्वर को अपना उपास्य देव और वेद को अपनी धर्मपुस्तक मानता है, उस को हिन्दु और ऐसे हिन्दुओं के समुदाय-विशेष को हिन्दुजाति कहते हैं**"। वास्तव में हिन्दुजाति का लक्षण यही है, परन्तु सम्प्रदाय-भेद के

कारण अब यह लक्षण पर्याप्त नही माना जा सकता । हिन्दुजाति में ऐसी अनेक सम्प्रदाय हैं, जो ईश्वर को अपना उपास्य-देव नही मानतीं, और ऐसी भी अनेक हैं जो ईश्वर को अपना उपास्य-देव मानती हुई भी वेद को अपनी धर्मपुस्तक नही मानतीं, और ऐसी भी अनेक हैं जो ईश्वर को अपना उपास्य-देव और वेद को अपनी धर्मपुस्तक नही मानतीं । वाङ्मय निखिल-साहित्य-सेवी विद्वानों का मत है कि "**जिस मनुष्यजाति (मनुष्यसमुदाय) के धार्मिक साहित्य में मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री "राम" और वैदिक-धर्मसंस्थापक आनन्दघन श्री "कृष्ण" का नाम सत्कारपूर्वक आता है, उसको हिन्दुजाति कहते हैं**"। वस्तुतः समस्त हिन्दुजाति का शुद्ध लक्षण यह प्रतीत होता है कि "**जिस मनुष्यजाति का मूल पैतृक-देश भारतवर्ष और उसके धार्मिक वाङ्मय-साहित्य का मूलस्रोत साक्षात् अथवा परम्परा से देववाणी संस्कृत है, उसको हिन्दुजाति कहते हैं**" । हिन्दुजाति का यह लक्षण जात्यन्तर्गत किसी सम्प्रदाय में अव्याप्त नही, और नही मुसलमान, ईसाई आदि दूसरी जातियों में अतिव्याप्त है । समस्त हिन्दुजाति में व्याप्त हो कर रहने से असम्भव-दोष-दूषित भी नही । अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव, इन तीनों दोषों से रहित लक्षण को ही न्यायमत में शुद्ध लक्षण कहते हैं । अत एव हिन्दुजाति का शुद्ध लक्षण यही है । इस लक्षण के लक्ष्य प्रत्येक हिन्दु का सब से पहला **परम धर्म** यह है कि वह अपने आप को दृढरूप से "हिन्दु" माने ॥

धर्मं चरत माऽधर्मं, सत्यं वदत माऽनृतम् ।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं, परं पश्यत माऽपरम् ॥ १ ॥

अर्थ—हे हिन्दुओ ! तुम सब धर्म (अच्छे कर्म) करो न अधर्म (बुरे कर्म), सत्य बोलो न झूठ । दूरदर्शी बनो न अदूरदर्शी, प्रत्येक हिन्दु को अपने से उत्कृष्ट (ऊचा) जानो न निकृष्ट (नीचा) ॥ १ ॥

द्वितीय प्रपाठक ।

"यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि ।
जातवेदो! यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने! अमृतत्वमश्याम्" ॥
(ऋ० ५ । ४ । १०) ।

अर्थ—हे सब धनों के स्वामी ! जो मैं मरणधर्मा मनुपुत्र (मनुष्य) आप को सदा अमर मानता हुआ स्तोता (स्तुतिकरने वाले) के हृदय से अर्थात् स्तुतिभरे मन से बारं-बार बुलाता हूं । हे सब के अगुआ अर्थात् हे जगद्गुरो ! आप हम सब को यश दें, और सम्पूर्ण भारतीय प्रजा के सहित वह मैं सब दुःखों से रहित सुख को प्राप्त होवूं ॥ १० ॥

मनुष्य अपनी जीवनयात्रा के निर्वाह के लिये एकाकी पर्याप्त नही, उस को उस के सुखपूर्वक निर्वाह के लिये जैसे अन्न, पान, गृह, क्षेत्र और दारा अपेक्षित है, वैसे अन्य सहायक भी अपेक्षित हैं । जो दुःख को अपना दुःख तथा सुख को अपना सुख मानें, और दुःख की निवृत्ति तथा सुख की प्राप्ति के लिये यथाशक्ति पूर्ण रूप से सहायता करें, और सहस्र प्रतिबन्ध (हजारों रुकावटें) उपस्थित होने पर भी साथ न छोडें, उनको "सहायक" कहते हैं । इसी को लक्ष्य में रख कर नीतिकारों ने कहा है कि—

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥ १ ॥

अर्थ—सुख में, दुःख में, दुर्भिक्ष में, राज्यपरिवर्तन में । राजसङ्कट में (राजा के कोप काल में) जो साथ देता है अर्थात् साथ नही छोडता, वह भाई है ॥ १ ॥

जो एक पिता के पुत्र हों, उनको भाई कहते हैं । छोटे बडे सब हिन्दू एक "**मनु**" पिता के पुत्र होने से आपस में भाई हैं । मनु पिता का वर्णन पुराणों से वेदों तक सब ग्रन्थों में अनेक प्रकार से किया है । उदाहरणार्थ नीचे दो वेदमन्त्र उद्धृत किये जाते हैं—

"यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता, तदश्याम तव रुद्र! प्रणीतिषु" (ऋ० १।११४।२)।

अर्थ—मनु पिता ने रोगों के नाशक तथा भयों के दूर करनेवाले जो ज्ञान और कर्म रूपी दो उपाय हमको दिये हैं, हे रुद्र! वह हम आप की आज्ञाओं में वर्तमान हुए प्राप्त करें ॥ २ ॥

"ते नस्त्राध्वं तेऽवत त उ नो अधि वोचत।
मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः" ॥
(ऋ० ८।३०।३)।

अर्थ—वे (सब देव) हमारी रक्षा करें, वे हमारा पालन करें, वे हम को सर्वत्र सब से बड़ा कहें (करें)। और मत हम को मनु पिता के मार्ग से कदापि दूर ले जायें ॥ ३ ॥

सनातन से समस्त हिन्दुजाति 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णों में विभक्त है। अर्थात् लोकव्यवहार की अनायास-सिद्धि और प्रत्येक कार्य में परस्पर साहाय्य-सहायक-भाव-सम्पत्ति के उद्देश्य से समस्त हिन्दुजाति ब्रह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णों में विभक्त (तकसीम) की गई है। उनमें (उक्त चारों वर्णों में) शूद्र-वर्ण के पुनः दो भेद हैं-एक **स्पृश्य**, दूसरे **अस्पृश्य**। जिन के हाथ का छुआ अन्न जल खाया पिया जाता है, उन को **"स्पृश्य"** और जिन के हाथ का छुआ अन्न जल खाया पिया नहीं जाता, उनको **"अस्पृश्य"** कहते हैं। **"पाणिनि"** मुनि ने अपनी परिभाषा से "अष्टाध्यायी-सूत्रों" में स्पृश्य शूद्रों के लिये **"अनिर्वासित"** शब्द का, और अस्पृश्य शूद्रों के लिये **"निर्वासित"** शब्द का प्रयोग किया है। पाणिनि मुनि का प्रयोग-सूत्र यह है—

"शूद्राणामनिरवसितानाम्" (अष्टा० २।४।१०)।

अर्थ—जो शूद्र निर्वासित अर्थात् अस्पृश्य नहीं, उन का समाहार-द्वन्द्वनाम का समास हो ॥ १० ॥

वाजसनेय-शुक्ल-यजुर्वेद के तीसवें ३० अध्याय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णों को लिख कर पीछे जिन एकसौ अठसठ १६८ जातियों के नामों का उल्लेख किया है, वे सब इन्हीं चारों वर्णों के अनुलोमज तथा प्रतिलोमज भेद हैं, भिन्न कोई वर्ण-विशेष नहीं।

"निरुक्त" के कर्ता "यास्क" मुनि ने "पञ्चजनाः" शब्द का अर्थ करते हुए "औपमन्यव" आचार्य के मत से जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से भिन्न पांचवां "निषाद" वर्ण लिखा है, वह ब्राह्मण-परिव्राजक-न्याय से शूद्र वर्ण के अवान्तर भेद (अस्पृश्य शूद्र) को दृष्टि में रख कर लिखा है, किसी भिन्न वर्ण की दृष्टि से नहीं लिखा । यास्क मुनि का लेख यह है—

"चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः" (नि० ३।८) ।

अर्थ—चारों वर्ण और पांचवां निषाद, यह "पञ्चजनाः" शब्द का अर्थ औपमन्यव आचार्य मानता है ॥ ८ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और दोनों प्रकार के शूद्र, इन पांचों में प्रायः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, आर्य जाति में से और शेष सब दूसरी मनुष्यजातियों में से माने जाते हैं । मानने का कारण यह है कि "वसिष्ठ" ऋषि ने अपने मन्त्रों में उक्त तीनों को ही आर्य-प्रजा (आर्यसन्तान) लिखा है, शेष को नहीं लिखा । वसिष्ठ ऋषि का मन्त्र यह है—

"तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः" (ऋ० ७।३३।७)

अर्थ—तीन प्रजा आर्य्य हैं, उज्ज्वल अर्थात् चमकते मुख वाली ॥७॥

आर्य्यसमाज के संस्थापक श्रीमान् स्वामी "दयानन्द" ने आर्य्यों से शूद्र के भिन्न जाति होने में "अथर्ववेद" के अन्तिम भाग का निम्न मन्त्रांश "सत्यार्थप्रकाश" में प्रमाणरूप से उद्धृत किया है—

"उत शूद्र उतार्य्ये"* (अथर्व० १९।६२।१) ।

इसकी अपेक्षा उक्त अर्थ की सिद्धि में "अथर्ववेद" का यह मन्त्र बहुत दृढ प्रमाण है—

"तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आदधत् ।
तयाऽहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्य्यः" ॥ (अथर्व० ४।२०।४) ।

अर्थ—वह अनन्तज्ञान, देवों का देव, परमात्मा उस लोक-शास्त्र-प्रसिद्ध सदा प्रफुल्लित रखनेवाली दानक्रिया-रूप दिव्य ओषधि को मेरे दहने हाथ में दे । और उस से युक्त हुआ मैं सब को समान-भाव से देखूं जो शूद्र है और आर्य्य ॥ ४ ॥

---

* आगे पृष्ठ २५ पर पूरा मन्त्र उद्धृत करके अर्थ लिखा है ।

उक्त चारों वर्णों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का चिन्ह यज्ञोपवीत-सहित चोटी (शिखा) और दोनों प्रकार के शूद्रों का केवल चोटी चिन्ह है। क्या आर्यजाति क्या अन्यजाति, दोनों प्रकार के शूद्रों से ब्राह्मण-पर्यन्त सब वर्णों को समानरूप से भगवान् "मनु" का पुत्र "महाभारत" के आदिपर्व में लिखा है। लेख का आकार इसप्रकार है—

"मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत्।
ब्रह्मक्षत्रादयस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवाः" ॥

(महाभारत १।७५।१५)।

अर्थ—मनु से यह मनुष्यों का वंश भारतवर्ष में फैला। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब, मनु के पुत्र होने से, मानव कहे जाते हैं ॥ १५ ॥

यहां समझने योग्य भेद केवल इतना है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तीनों मनु पिता के औरस पुत्र, और शेष सब उसके कृत्रिम पुत्र हैं। धर्मशास्त्र में औरस और कृत्रिम, दोनों प्रकारके पुत्रों को समानरूप से पिता का पुत्र होने से भाई तथा पितृधन का भागी लिखा है। लेख का स्वरूप एवंरूप है—

"औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्" ॥ (मनु० ९।१५९)।

अर्थ—औरस (अपने से उत्पन्न हुआ) क्षेत्रज (नियोग से उत्पन्न हुआ) दत्त (माता पिता से दिया हुआ) कृत्रिम (आप बनाया हुआ) गूढोत्पन्न (गुप्त उत्पन्न हुआ) अपविद्ध (त्यागा हुआ पाला गया) यह छे ६ भाई और पितृधन के भागी हैं ॥ १५९ ॥

मुसलमान, ईसाई, यहूदी, प्रभृति जितनी मनुष्य-जातियें इस समय "भारतवर्ष" में रहती और भारतवर्ष को ही अपना देश समझती और मानती हैं, उन सब का मूल पुरुष "आदम" माना जाता है "मनु" नही। इसलिये मुसलमान, ईसाई तथा यहुदी आदि, सब के सब, हिन्दुओं के देशभाई और हिन्दू उन के (हिन्दुओं के) पैतृक भाई, यह विशेष है।

भाई (पैतृक भाई) हो अथवा देशभाई, जब तक उस के साथ "समभाव का वर्ताव" न किया जाये, तब तक भाई भाई नही हो सकता, और नही देशभाई देशभाई हो सकता है। सांसारिक कार्यों में अभीष्ट-सिद्धि के लिये

जितनी देशभाईओं की आवश्यकता है, उस से सहस्रगुणा अधिक अपने भाई ओं (पैतृक भाईओं) की आवश्यकता है। जगत् एक महायुद्ध का स्थल (मैदान) है, उस में प्रत्येक मनुष्य को पदे पदे (कदम कदम पर) दुःख और दुःखसाधनों का साम्मुख्य (मुकाबला) जैसे सम्भावित है, वैसे उस की मूलसहित निवृत्ति के लिये देशभाईओं के समान अपने भाईओं की सहायता भी अपेक्षित है। और वह तब ही हो सकती है, जब उन के साथ निष्कपटभाव से समभाव का वर्ताव किया जाये। बुद्धिमान् 'अपने समान वर्ताव, को "समभाव का वर्ताव" कहते हैं। अर्थात् जो अपने अनुकूल है, वह दूसरों को अनुकूल, जो अपने प्रतिकूल है, वह दूसरों को प्रतिकूल, ऐसा समझ कर जो दूसरों के साथ प्रतिकूल वर्ताव न करते हुए अनुकूल वर्ताव करना है, उसका नाम "समभाव का वर्ताव" है। तात्पर्य---अपने में और दूसरों में जो एक जैसा वर्ताव, वह "समभाव का वर्ताव" कहा जाता है। यह एक हिन्दु का दूसरे हिन्दु के साथ कदाचित् कुत्रचित् होने से फलदायक नहीं हो सकता, किन्तु सर्वदा सर्वत्र नियमपूर्वक होने से ही फलदायक हो सकता है। इसलिये प्रत्येक हिन्दु का यह **दूसरा परमधर्म** है कि वह सब हिन्दुओं को अपना भाई मानता हुआ सब के साथ सर्वदा सर्वत्र नियमपूर्वक समभाव का वर्ताव करे॥

"न पापासो मनामहे नारायसो न जह्लवः।
यदि न्विन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहै"॥ (ऋ० ८।५०।११)।

अर्थ—हे ईश्वर! न पापी हुए अर्थात् अपने धर्म से न विमुख हुए, न निर्धन हुए अर्थात् धन-धान्य से हीन न हुए, और न परस्पर कुटिलभाव से वर्तते हुए अर्थात् आपस में विषमभाव का वर्ताव न करते हुए हम आप का वारंवार स्मरण करते अर्थात् खाते पीते, उठते बैठते, सोते जागते, आप का परम पवित्र नाम वारंवार उच्चारण करते हैं। जब कि हम आप के सेवकों ने यज्ञ आदि सर्वोपकारी अर्थात् देश, जाति और आत्मा की उन्नति के साधन प्रत्येक कर्म में 'धर्म' आदि चारों पदार्थों की वर्षा करने वाले तुझ इन्द्र को (सर्वैश्वर्य-सम्पन्न परमात्मा को) सदा के लिये अपना साथी सखा बना लिया है॥ ११॥

तृतीय प्रपाठक।

"असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय" ॥ (बृ० उ० १।३।२८)।

अर्थ—हे परमात्मन् ! हम को असन्मार्ग से सन्मार्ग में चला, अन्धेरे (नीच ऊच भाव के मिथ्या अभिमान) से प्रकाश (सब हिन्दू आपस में बराबर के भाई हैं के विचार) में ला, और परतन्त्रता-रूप मृत्यु से स्वतन्त्रता-रूप अमृत हमें दे ॥ २९ ॥

"मा न इन्द्र ! परा वृणग् भवा नः सधमाद्यः।
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र ! परा वृणक्" ॥
(ऋ० ८।९७।७)।

अर्थ—हे इन्द्र ! हे सर्वैश्वर्य-सम्पन्न परमात्मन् ! आप ने हमारा परित्याग नहीं करना, और हम सब को एक साथ 'लोक तथा परलोक-सुख का देनेवाला होना। हे इन्द्र ! आप ही हमारे रक्षक और आप ही हमारी प्रार्थना की जगह हैं, यद्यपि हम योग्य नहीं, तो भी आप ने हम सब को नहीं छोडना ॥ ७ ॥

गीता में श्रीकृष्ण भगवान् का वचन है कि "परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ"=एक दूसरे की सेवा अर्थात् सहायता करते हुए उत्कृष्ट सुख अर्थात् ऊपरली श्रेणी के सुख को प्राप्त करो (गी० ३।११)। इस वचन का आशय यह है कि संसार में दो प्रकार का सुख है-एक निकृष्ट सुख (नीचली श्रेणी का सुख) और दूसरा उत्कृष्ट सुख (ऊपरली श्रेणी का सुख)। जो सुख परतन्त्रता-पूर्वक भोगा जाता है, उसको निकृष्ट सुख और जो स्वतन्त्रता-पूर्वक भोगा जाता है, उसको उत्कृष्ट सुख कहते हैं। यही उत्कृष्ट सुख मनुष्य-जन्म का सांसारिक सुख माना जाता है। वह एक दूसरे की सहायता विना प्राप्त नही हो सकता। उसकी प्राप्ति के लिये सर्वदा सर्वत्र एक दूसरे को एक दूसरे का नियम से सहायक होना चाहिये। इस समय हिन्दुजाति में वर्णभेद की मात्रा सीमा से अधिक बढ जाने के कारण परस्पर

साहाय्य-सहायक-भाव का बन्धन बहुत कुछ शिथिल हो गया है। यही कारण है कि उसका सर्वोत्कृष्ट सांसारिक सुख सर्वतः नष्ट न होने पर भी प्रायः नष्ट हो गया है। हिन्दुजाति के पूर्वपुरुषों ने जिस आशय से चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था (चारों वर्णों की मर्यादा) की नींव रखी थी, हिन्दुजाति ने उस की कुछ परवाह नही की। हिन्दुजाति के पूर्वपुरुषों का आशय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था से सर्वोत्कृष्ट सांसारिक-सुख-प्राप्ति के लिये समस्त हिन्दुओं का परस्पर साहाय्य-सहायक-भाव सम्बन्ध दृढ करना था। वे समझते थे कि जैसे मुख, हाथ, जङ्घा, पांव, परस्पर साहाय्य-सहायक-भाव से वर्तमान हुए सांसारिक सुख-सम्पत्ति के हेतु हैं, वैसे समष्टि-शरीर हिन्दुजाति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण भी परस्पर सहाय्य-सहायक-भाव से वर्तमान हुए सर्वोत्कृष्ट सांसारिक-सुख-सम्पत्ति के हेतु होंगे, और संसारमण्डल में एक सभ्य जाति के समान अपने सर्वोच्च (सब से ऊचे) मानुष सुख का उपभोग करते हुए परम-शान्ति के साथ जीवन-दिनों को पूरा करेंगे। इस वर्णव्यवस्था से किसी को ऊच अथवा नीच बनाना उनका आशय नही था। जैसे शरीर के सब अङ्ग अपने अपने स्थान में परमोपयोगी होने से बहुमूल्य हैं, और उन में उत्कृष्ट-निकृष्ट-भाव अर्थात् ऊच-नीच-पना स्व-स्व कार्य की दृष्टि से केवल अध्यारोपित (कल्पित) है, वैसे वर्णों में भी स्व-स्व कार्य की दृष्टि से उत्कृष्ट-निकृष्ट-भाव अध्यारोपित मात्र है, वस्तुतः उन में कोई वर्ण उत्कृष्ट (ऊच) नही, और नही कोई वर्ण निकृष्ट (नीच) है। यदि हिन्दुजाति के पूर्वपुरुषों की दृष्टि में वस्तुतः वर्णों में कुछ उत्कृष्ट-निकृष्ट-भाव होता, तो वे चारों वर्णों के लिये समान प्रार्थना न करते। समान प्रार्थना करने से स्पष्ट है कि वे स्वस्वकार्य्य की दृष्टि से वर्णभेद मानते हुए भी वास्तव में कुछ भेद नही मानते और सर्वदा सर्वत्र सब का आपस में साहाय्य-सहायक-भाव से मिल कर कार्य्य करना जाति (हिन्दुजाति) के लिये परम उपयोगी सझते हैं। हिन्दुजाति के पूर्वपुरुषों के समान-प्रार्थनामन्त्र अनेक हैं, उन में से केवल दो मन्त्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

"रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम्" ॥ (यजु० १८।४८)

अर्थ—हे अग्नि ! हमारे ब्राह्मणों में तेज दे, हमारे क्षत्रियों में तेज दे । हमारे वैश्यों और शूद्रों में तेज दे, और मुझे भी निरन्तर तेज दे ॥ ४९ ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्य्ये * ॥ (अथर्व० १९।६२।१)

अर्थ—मुझे देवों (मनुष्य देवों) अर्थात् ब्राह्मणों में प्रिय बना, मुझे क्षत्रियों में प्रिय बना । मुझे सब प्राणियों का प्रिय बना, मुझे शूद्र और वैश्य में प्रिय बना ॥ १ ॥

वर्णव्यवस्था को ऊपरी दृष्टि से देखने से जो अल्पदृक् (अदूरदर्शी) क्षुद्रबुद्धि मनुष्यों के हृदय में ऊंच नीच भाव अर्थात् छोटाई बडाई का भाव उत्पन्न होता और हो गया है, और जिस के उत्पन्न हो जाने से हिन्दुजाति की व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दशा इस समय नितान्त (अत्यन्त) शोचनीय है, उस को मन्त्रद्रष्टा ऋषी पहले ही से समझे हुए थे । अत एव उन्हों ने अपने मन्त्रों में इस सर्वस्वनाशी मिथ्या छोटाई बडाई के भाव की समूल निवृत्ति का बहुत कुछ प्रयत्न किया है, और ब्राह्मण से अस्पृश्य शूद्रों तक सब हिन्दुओं को अपनी ओजस्वनी तथा गम्भीर वाणी से पुकार कर सावधान किया है कि आप सब में कोई छोटा बडा नही, आप सब एक पिता की सन्तान होने से बराबर के भाई हैं । इन सब मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में से "श्यावाश्व" ऋषि के दो मन्त्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः" ॥
(ऋ० ५।६०।५)

अर्थ—तुममें कोई बडा नही, कोई छोटा नही, यह सब तुम आपस में भाई हैं, लोक में सब से अच्छे ऐश्वर्य के लिये मिलकर बढो अर्थात्

* बम्बई के छपे पदपाठ में 'आर्य्ये' पाठ अशुद्ध छपा है, 'अर्य्ये' छपना चाहिये, क्योंकि मन्त्र के पूर्वार्ध में ब्राह्मण, क्षत्रिय का अलग ग्रहण हो जाने से अन्त में शूद्र, वैश्य का ग्रहण ही उचित है ।

परस्पर साहाय्य–साहायक–भाव से मिलकर प्रयत्न करो। आप का अच्छे कर्म करने वाला सदा युवा (जवान) पिता रुद्र अर्थात् पालक सूर्य और उत्तम उत्तम पदार्थों के देनेवाली नाना ऋतुओं से अलङ्कृत भूमि अर्थात् भारत-माता, तुम सब मरुतों अर्थात् मरुतों के समान बलवानों मनु के वीर पुत्रों के लिये जीने के दिनों को अच्छा करे ॥ ५ ॥

"ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः। सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्य्या आ नो अच्छा जिगातन" ॥ (ऋ० ५।५९।६)।

अर्थ—वे सब आप आपस में बडे नही, छोटे नही, और मध्यम भी नही हैं, आप सब मिलकर अपने तेज से अर्थात् सङ्घशक्ति से शत्रुओं का उच्छेदन (नाश) करते हुए बढते हैं। वे सब आप भूमिमण्डल में जन्म से उत्तमजाति अर्थात् जन्म से भारतवर्ष के राजा, भारतमाता के सुपुत्र, आप सब मनुष्य अर्थात् आप सब मनु भगवान् के पुत्र, दिव्य–गुणोंवाले हुए हमारे साह्मने आवें ॥ ६ ॥

जब मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की सुदृष्टि में वर्तमान छोटाई बडाई का भाव मिथ्या अभिमान मात्र होने से दूर करने योग्य है, और उस के विद्यमान रहने से परस्पर भेदभाव उत्पन्न होने के सिवा दूसरा कोई लाभ नही, तब दूरदर्शी बुद्धिमान् समयाभिज्ञ हिन्दुजाति के मुखियों का कर्तव्य है कि वे शनैःशनैः इस कुत्सित भाव के दूर करने का यत्न करें, क्योंकि इस के कारण इस समय अस्पृश्य हिन्दुओं की मनोवृत्ति बडी डांवा–डोल है। ऐसा न हो कि इस छोटाई बडाई के कुभाव के कारण उत्पन्न हुए भेदभाव के बढ जाने से यह हिन्दुजाति के शरीर का बहुमूल्य अङ्ग धीरे धीरे विभिन्न होता हुआ एक दिन सर्वथा विच्छिन्न हो जाये, और उस के विच्छिन्न हो जाने से हिन्दुजाति को गहरी हानि उठानी पडे।

संसार में प्रत्येक मनुष्यजाति की महिमा और प्रतिष्ठा का एक मात्र हेतु उस की सङ्घशक्ति है। जो मनुष्यजाति अपनी सङ्घशक्ति को मात्रयापि (जरा भी) बिगडनी नही देती, और सर्वदा उस के साङ्गोपाङ्ग उज्जीवित रखने में प्रयत्नशील रहती है, वह अपनी महिमा और प्रतिष्ठा को

बढाती हुई सर्वोच्च सांसारिक सुख का उपभोग करती, और जीने के दिनों को विवाह (लग्न) के दिनों के समान अच्छी तरह बिताती है। हिन्दुजाति की रही सही महिमा और प्रतिष्ठा भी इस के समयोचित सङ्घ पर निर्भर है, और वह (समयोचित सङ्घ) तब ही ज्यूं का त्यूं बना रह सकता है, जब हिन्दुजाति के उदार-हृदय समयाभिज्ञ मुखिया जन कुछ उदार-भाव से काम लें, और इन अस्पृश्य हिन्दुओं को अपना भाई समझ कर सामुदायिक (सब के सांझे) कार्यों में सम्मिलित होने का सुअवसर प्रदान करें।

प्रत्येक मनुष्यजाति में कर्तव्य कर्म तीन भागों में विभक्त किये जाते हैं एक व्यक्ति-कर्म, दूसरे श्रेणी-कर्म, और तीसरे जातिकर्म। जिस कर्म का केवल व्यक्ति के साथ सम्बन्ध है, उसका नाम "व्यक्तिकर्म" जिस कर्म का श्रेणी (ब्राह्मणश्रेणी, क्षत्रियश्रेणी आदि) के साथ सम्बन्ध है, उस का नाम "श्रेणीकर्म" और जिस कर्म का समस्त जाति के साथ सम्बन्ध है, उसका नाम "जातिकर्म" है। जातिकर्म और सामुदायिक कर्म, यह दोनों यहां पर्याय शब्द हैं। व्यक्तिकर्म तथा श्रेणीकर्म असाधारण और जातिकर्म साधारण है। असाधारण कर्म सब के अलग अलग होते हैं अर्थात् एक व्यक्ति अथवा एक श्रेणी के अधिकृत कर्म में दूसरी व्यक्ति अथवा दूसरी श्रेणी को अधिकार नही दिया जा सकता, परन्तु जातिकर्म अर्थात् सामुदायिक कर्म साधारण होने से सब का सांझा कर्म है, और जात्यन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को उसका अधिकार जन्मसिद्ध होने से स्वयं प्राप्त है। जिन जातिकार्यों में जात्यन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को सम्मिलित होने और यथाशक्ति भाग लेने का अधिकार जन्मसिद्ध होने से स्वतः प्राप्त है, उन में अपने भाईओं (अस्पृश्य हिन्दु ओं) को सम्मिलित न होने देना और सम्मिलित हुओं से निष्प्रयोजन घृणा करना भारी अन्याय है। ऐसे अन्यायों से ही दुःखित-चित्त हुए भाई भाईओं को छोड देते और अन्त में सङ्घशक्ति के नष्ट हो जाने से सब के सब नष्ट हो जाते अथवा नष्ट-प्राय हुए जीने के कष्टमय दिनों को ज्यूं त्यूं कर के बिताते हैं। इसी को ध्यान में रख कर नीतिकारों ने कहा है—

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि।
तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥ १ ॥

अर्थ—मनुष्यों को अपने जाति-भाईओं के साथ चाहे वे शक्ति, गुण अथवा संख्या में थोड़े ही हों, मेल रखना परम (उत्कृष्ट) सुख का साधन है, क्योंकि नितान्त अल्पशक्ति अल्पगुण तुषों से त्यागे हुए तण्डुल भी अङ्कुरित नही होते ॥ १ ॥

भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्तते।
अतो विभागं भ्रातृणां न प्रशंसन्ति साधवः ॥ २ ॥

अर्थ—जो आपस में मिलकर नही रहते किन्तु अपने कुभावों के कारण भिन्न होजाते अर्थात् फूट जाते हैं, उनका निरवशेष नाश (मूलसहित नाश) बहुत जल्दी हो जाता है। इसलिये दूरदर्शी समयाभिज्ञ भले पुरुष भाईओं के विभाग (आपस में फूट) की प्रशंसा नही करते ॥ २ ॥

मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से यह सब परोक्ष न था, वे छोटाई बडाई के कुभावों से उत्पन्न होने वाली परस्पर की (आपस की) फूट को और उस के कुत्सित परिणामों को भलीभांति समझते थे। अतएव वे वैयक्तिक तथा श्रैणिक कर्मों में सब हिन्दुओं का एक जैसा अधिकार न मानते हुए भी जातिकर्मों अर्थात् सामुदायिक कर्मों में छोटे से बडे तक सब हिन्दुओं का एक जैसा अधिकार मानते थे, और प्रधान प्रधान श्रेणीकर्मों अर्थात् नानाविध यज्ञ आदि कर्मों में अधिकारिभेद मानते हुए भी उन के अनुष्ठान में सम्मिलित होने के लिये सब हिन्दुओं का बडी नम्रता-पूर्वक आह्वान किया करते थे। उदाहरणार्थ "सुचीक" के पुत्र "अग्नि" ऋषि के दो आह्वान-मन्त्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

"तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्" ॥
(ऋ० १०।५३।४)।

अर्थ—हे देवो! मैं आप की वाणी अर्थात् आप के दिये वचन का वह मुख्य बल मानता हूं, जो आज हम असुरों को दबा लें। हे हवि के खाने वालो यज्ञ के योग्य देवो! और हे पञ्चजनो अर्थात् ब्रह्माण, क्षत्रिय, वैश्य और दोनों प्रकार के शूद्रो! मेरे यज्ञ का सेवन करो अर्थात् यज्ञ में पधार कर मुझे अनुगृहीत करो ॥ ४ ॥

**"पञ्चजना मम होत्रं जुषन्तां गोजाता उत ये यज्ञियासः।
पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान्" ॥**

(ऋ० १०।५३।५)।

अर्थ—पञ्चजन अर्थात् भारत-माता के सुपुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और दोनों प्रकार के शूद्र, यह पांचो जन मेरे यज्ञ का सेवन करें, और यज्ञ में पधारे यज्ञिय देवता मेरे यज्ञ का सेवन करें। पृथिवी (भारत-माता) हमारी रक्षा करे पृथिवी में होने वाले अपने भाईयों के अपमान—रूपी पाप से, और अन्तरिक्ष अर्थात् द्युलोक हमारी रक्षा करे द्युलोक से यज्ञ में पधारे हुए देवताओं के अपमान—रूपी पाप से ॥ ५ ॥

"वत्सप्रि" ऋषि ने अपने मन्त्र में कहा है कि यज्ञ-कर्मों में आह्वान किये गये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और दोनों प्रकार के शूद्र, मिल कर यज्ञ कर्म को समाप्त करते और बड़े उत्साह के साथ अन्तिम आहुति (पूर्णाहुति) से अग्नि-देवता का यजन (पूजन) किया करते थे। वत्सप्रि ऋषि का मन्त्र यह है—

**"विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः।
वीळुं चिदद्रिमभिनत् परायन् जना यदग्निमयजन्त पञ्च" ॥**

(ऋ० १०।४५।६)।

अर्थ—सब जगत् का प्रकाश करनेवाला, सब लोकों का कारण, अग्नि (अग्नि-देवता) जन्म लेते ही पृथिवी और द्युलोक, दोनों को भर देता है। और दूर तक जाता हुआ दृढ पर्वत (मेघ) को भी छिन्न भिन्न कर देता है, जब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और दोनों प्रकार के शूद्र, यह पांचो जन अन्तिम आहुति (पूर्णाहुति) से अग्नि का पूजन करते हैं ॥ ६ ॥

"शतपथब्राह्मण" में लिखा है कि यज्ञकर्मों में आह्वान करने से सम्मिलित हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और दोनों प्रकार के शूद्र अर्थात् चारों वर्ण मिलकर सोमपान किया करते थे, और उन में से एक भी (कोई भी) वमन नहीं करता था। और जो वमन करता, वह प्रायश्चित्ती समझा जाता। "शतपथ ब्राह्मण" का लेख यह है—

"चत्वारो वै वर्णाः ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः। न हैतेषामेकश्चन भवति, यः सोमं वमति। स यद् हैतेषामेकश्चित् स्यात्, स्याद् हैव प्रायश्चित्तिः" ॥ (शत० ५।५।४।९)।

अर्थ—चार निश्चय वर्ण हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन चारों वर्णों में एक भी ऐसा नही, जो सोम पी कर वमन करे। वह जो इन में से एक भी हो, पी कर वमन करने वाला, वह निश्चय प्रायश्चित्ती (पापी) होता है ॥ ९ ॥

"तैत्तिरीय ब्राह्मण" में लिखा है कि यज्ञ-कर्मों में सम्मिलित हुए भारतमाता के सब ही पुत्र अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और दोनों प्रकार के शूद्र, अन्त में (यज्ञ-कर्मों की समाप्ति में) एक प्रकार का नाटक किया करते थे। और उस में सब के मनोरञ्जनार्थ (मन खुश करने के लिये) यज्ञिय पशु (यज्ञ में मारे गये पशु) का गीला चर्म (चमडा) एक ओर से ब्राह्मण और दूसरी ओर से शूद्र पकड कर यज्ञ कर्म के हानि-लाभों पर आपस में वाद-विवाद किया करता था। ब्राह्मण वेदी के भीतर और शूद्र वेदी के बाहर खडा होता, और उन में ब्राह्मण देवपक्ष का तथा शूद्र असुरपक्ष का समर्थन किया करता था। इस वाद-विवाद में ब्राह्मण का विजय तथा शूद्र का पराजय यजमान के विषय में अत्यन्त मङ्गलकारी और भावी शुभ का सूचक समझा जाता था। "तैत्तिरीय-ब्राह्मण" का लेख यह है—

"ब्राह्मणश्च शूद्रश्च चर्मकर्ते व्यायच्छेते। दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः, असुर्य्यः शूद्रः। इमेऽरात्सुरिमे सम्भूतमक्रन्, इत्यन्यतरः। इम उद्वासीकारिणः, इमे दुर्भूतमक्रन्नित्यन्यतरः। यदेवैषां सुकृतं या राद्धिः तदन्यतरोऽभिश्रीणाति। यदेवैषां दुष्कृतं याऽराद्धिः, तदन्यतरोऽपहन्ति। ब्राह्मणः सञ्जायति" ॥
(तै० ब्रा० १।२।६)।

अर्थ—ब्राह्मण और शूद्र, दोनों चर्म के व्याज (बहाने) से आपस में विवाद करते हैं। ब्राह्मण निश्चय देवपक्ष का और शूद्र असुरपक्ष का

'समर्थक' होता है। यह यजमान (यज्ञकर्ता) समृद्धि को प्राप्त हुए, इन्हों ने अच्छा कर्म किया, यह ब्राह्मण कहता है। यह यजमान ब्राह्मणों की सिखावट (शिक्षा) से देश के धन, धान्य (घृत, पशु, चरु पुरोडाश आदि) को नष्ट कर के (व्यर्थ अग्नि में जला कर) देश को निवास के अयोग्य बनानेवाले और बनाते हैं, इन्हों ने अच्छा कर्म (देशोपकारी कर्म) नहीं किया, यह शूद्र कहता है। यजमानों के पुण्य और धन आदि पदार्थों की समृद्धि अर्थात् बहुतायत को ब्राह्मण बनाता है, और शूद्र उन के पाप तथा धन आदि पदार्थों की असमृद्धि अर्थात् कमी (न्यूनता) को नष्ट करता है। इन दोनों में ब्राह्मण को विजय मिलती है ॥ ६ ॥

"ताण्ड्य ब्राह्मण" में इस ब्राह्मण-शूद्र-विवाद का संक्षेप इस प्रकार किया है—

"शूद्रार्य्यौ चर्मणि व्यायच्छेते। तयोरार्य्यं वर्णमुज्ञापयन्ति"॥
(ताण्ड्य० ५।५।१४)।

अर्थ—शूद्र और ब्राह्मण, चर्म के बहाने आपस में विवाद करते हैं। उन दोनों में ब्राह्मण-वर्ण को जिताते हैं ॥ १४ ॥

पूर्वकाल में हिन्दुओं का बहुत अभ्युदय था। वर्तमान काल में प्रतिदिन उस के ह्रास का कारण यही है कि इन का अपने भाईओं के साथ पूर्वकाल के समान समभाव का वर्ताव नहीं रहा, प्रत्युत उस के स्थान में विषम-भाव का वर्ताव अहर्निश बडे वेग से बढ रहा है। यह राजनैतिक दृष्टि से जैसे प्रशंसनीय नहीं, वैसे धार्मिक दृष्टि से भी प्रशंसा के योग्य नहीं है, क्योंकि हिन्दुजाति की सब से प्राचीन धर्मपुस्तक "वेद" में अपने भाईओं के साथ समभाव के वर्ताव की आज्ञा दी गई है, विषमभाव के वर्ताव की नहीं। वेद में दी गई आज्ञा का आकार एवंप्रकार है—

"सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्य्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या"॥ (अथर्व० ३।३०।१)

अर्थ—हे हिन्दुओ! मैं तुम को समान-विचारवाला, समान प्रीति-वाला, आपस में द्वेष न करनेवाला बनाता हूं। एक दूसरे को स्नेहपूर्वक चाहो, जैसे नये जन्मे बच्छे को गौ चाहती है ॥ १ ॥

"मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसरं स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया" ॥ (अथर्व० ३।३०।३)

अर्थ—मत भाई के साथ भाई द्वेष करे, मत भैन के साथ भैन। समान ज्ञान (विचार) वाले और समान कर्मवाले हुए आपस में कल्याणी (सुखदायी) वाणी से बातचीत करो ॥ ३ ॥

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्य्यतारा नाभिमिवाभितः" ॥ (अथर्व० ३।३०।६) ।

अर्थ—आप सब का पानी पीने का स्थान एक हो, आप सब एक साथ बैठ कर प्रीतिपूर्वक भोजन किया करें, मैं आप सब को भ्रातृभाव की स्नेह-पाश (प्रेमफास) में बान्धता हूं। आप सब एक उद्देश तथा एक विचार वाले हुए चारों ओर से मिलकर अपने परम देवता अग्नि का पूजन किया करें, जैसे रथचक्र की नाभी की चारों ओर से मिल कर अरे ॥ ६ ॥

प्रत्येक मनुष्यजाति का अभ्युदय उस की धर्मनिष्ठा पर अवलम्बित है। जिस मनुष्यजाति की अपने धर्म पर दृढ निष्ठा है, उस का अभ्युदय होता है, और जिस की नही, उस का नही, यह ध्रुव नियम है। हिन्दुओं को चाहिये कि वे अपने पूर्वपुरुषों के समान अपने धर्म पर अपनी दृढनिष्ठा सम्पादन करें, और वेद भगवान् की आज्ञाओं का यथासामर्थ्य पालन करना अपना परम कर्तव्य समझें। हिन्दुजाति के पूर्वपुरुष स्पृश्य, अस्पृश्य, दोनों प्रकार के शूद्रों को अपने यज्ञों में सत्कारपूर्वक बुला कर केवल खान–पान तथा वाद–विवाद आदि क्रियाओं में सम्मिलित ही नही करते थे, किन्तु अन्त में उन को उपास्य देव परमपिता-परमात्मा की महिमा (विभूति) तथा जाति का बडा कीमती अङ्ग समझ कर नमस्कार भी किया करते थे, यह "यजुर्वेद" के नमस्कार–मन्त्र से स्पष्ट है। यजुर्वेद का नमस्कारमन्त्र यह है—

"नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमः। नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः । नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमः । नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः" ॥ (यजु० १६।२७)।

महीधर-भाष्यम्—तक्षाणः शिल्पजातयः, तेभ्यो नमः । रथं कुर्वन्तीति रथकाराः सूत्रधारविशेषाः, तेभ्यो नमः । कुलालाः कुम्भकाराः, तेभ्यो नमः । कर्माराः लोहकाराः, तेभ्यो नमः । निषादाः गिरिचराः मांसाशिनो भिल्लाः, तेभ्यो वो नमः । पुञ्जिष्ठाः पक्षिपुञ्जघातकाः पुल्कसादयः, तेभ्यो वो नमः । शुनो नयन्ति ते श्वन्यः, श्वकण्ठबद्धरज्जुधारकाः श्वगणिनः, नयतेर्ह्रस्व आर्षः, तेभ्यो नमः । मृगान् कामयन्ते ते मृगयवः, मृगयवो लुब्धकाः, तेभ्यो वो नमः ।

अर्थ—तक्षा जो शिल्पजातियें हैं, जैसे बढई (खाती) आदि, उन को नमस्कार हो, रथ के बनानेवाले जो सूत्रधारविशेष अर्थात् तक्षा-जातिविशेष हैं, उन आप सब को नमस्कार हो । कुलालों अर्थात् कुम्भकारों (घुमारों) को नमस्कार हो, कर्मारों अर्थात् लोहकारों (लोहारों) को नमस्कार हो । निषादों अर्थात् पर्वतों में रहनेवाले प्रायः मांसभोजी भिल्लों (अन्त्यजों) को नमस्कार हो, पुञ्जिष्ठों अर्थात् पक्षियों के मारने और पकडनेवाले पुल्कस (पुक्कस) आदि अन्त्यज जातियों को नमस्कार हो । श्वनी अर्थात् कुत्ते पालनेवालों (चण्डालों) को नमस्कार हो, और मृगयु अर्थात् शिकार करनेवाले व्याधों को नमस्कार हो ॥ २७ ॥

वर्तमान समय में प्रत्येक मनुष्यजाति को अपनी सामुदायिक (सामूहिक) शक्ति अर्थात् सङ्घशक्ति की जितनी आवश्यकता है, उतनी पहले नही थी । पहले प्रत्येक जाति का मनुष्य समस्त भूमिमण्डल पर जिस देश जिस प्रदेश में चाहे, सुखपूर्वक रह सकता, स्वेच्छापूर्वक विचर सकता और उस में उत्पन्न होनेवाले उत्तम उत्तम पदार्थों को अपनी इच्छानुसार उपभोग में ला सकता था, उस के लिये कोई प्रतिबन्ध (रोकावट) न था । अब वैसा नही, पहले से सब कुछ विपरीत है । अब उस ही जाति का मनुष्य समस्त भूमिमण्डल के देश प्रदेश में सुखपूर्वक रह सकता, स्वेच्छापूर्वक विचर सकता और उस में उत्पन्न होनेवाले उत्तम उत्तम पदार्थों को अपनी इच्छानुसार उपभोग में ला सकता है, जिस जाति की सामुदायिक शक्ति अर्थात् सङ्घशक्ति दूसरी जातियों की सामुदायिक शक्ति के साथ हुंकारपूर्वक सख्त टक्कर लगा सके, और अवसर प्राप्त होने पर दस पैर पीछे हटा सके । इस मर्म को ईरूपीय जातियों ने जैसा समझा है, वैसा ऐशियावासी जातियों ने अभीतक नही समझा । हिन्दुजाति की दशा तो सब जातियों से अधिक शो-

चनीय है। एक दिन वह था कि समस्त भूमिमण्डल के उच्च से उच्च मनुष्य, एक छोटे से छोटे हिन्दु के साह्मने, शिष्य-भाव से (विनीतभाव से) बैठना अपना अभूतपूर्व गौरव समझते थे, आज वह दिन है कि एक उच्च से उच्च हिन्दु-व्यक्ति का साह्मने बैठना अपना अपमान समझा जाता है। हिन्दुजाति की यह हीन क्षीण दशा क्यों हुई, इतनी चढी बढ़ी जाति एकदम अत्यन्त नीचे क्यों गिर गई, इतनी अवनत क्यों होगई, क्या स्वदेश, क्या विदेश, सब जगह इसका इतना असह्य अपमान क्यों होने लगा? इस का दूसरा कोई कारण नही, यही एक कारण है कि हिन्दुजाति ने अपने कदाचारों, अपने क्षुद्र विचारों अपने सङ्कुचित भावों तथा आशयों से अपनी सामुदायिक-शक्ति को नष्ट भ्रष्ट, कर लिया है। हिन्दुजाति में यह सङ्कुचित भाव, यह क्षुद्र विचार, यह कुत्सित आचार, कैसे और कब उत्पन्न हुए? इसका उत्तर यही है कि जब से उसने अपने परमधर्म का पालन करना एकदम छोड दिया और मिथ्या अभिमान-मात्र को अपना सर्वस्व समझ लिया। यह स्पष्ट तथा निर्विवाद है कि जो जाति अपने मुख्य धर्म से विमुख हो जाती है, यथासमय यथाविधि उदारभाव से उसका पालन नही करती, उसकी ऐसी ही दशा हुआ करती है, जैसी आजकल हिन्दु-जाति की दशा है। हिन्दुओं को चाहिये कि अब भी वे अपने मुख्य धर्म का यथाविधि शरीर, वाणी और मन से पालन करें, और वेद भगवान् की परम पवित्र आज्ञाओं को शिरोधार्य करते हुए श्रद्धाभक्तिपूर्वक अनुष्ठान में लायें, जिस से उनकी यह असह्य-अपमानजनक तथा घोर शोचनीय दशा शीघ्र निवृत्त हो जाये और समस्त हिन्दुजाति जगतीतल की गौरवान्वित अन्य सब जातियों में अपना चिरकाल से खोया हुआ उच्च आसन पुनः प्राप्त करे। वेद भगवान् की आज्ञायें अनेक हैं, उन में से केवल सामुदायिक शक्ति की सम्पादक सारभूत आज्ञा का उल्लेख नीचे किया जाता है—

"सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते"॥ (ऋ० १०।१९१।२)।

अर्थ—हे हिन्दुओ? तुम सब शरीर से मिलो अर्थात् परस्पर घृणा को छोड कर एकट्ठे हो कर बैठो १ एक वाणी बोलो अर्थात् आप का नेता जो बात कहे, एकट्ठे बैठे हुए आप सब उस का अनुमोदन करो और परस्पर प्रेमपूर्वक वार्तालाप किया करो २ आप सब के मन एक हों, अर्थात् नेता की

जिस बात का अनुमोदन वाणी से किया है, उसी का अनुमोदन मन से भी करो और आपस का वैर विरोध छोड कर एक मन हो जाओ ३ इस प्रकार शरीर, वाणी और मन से एक हुए तुम सब अपने नेता की अनुमति से अपने अपने कार्य्य-भाग को अर्थात् बांटे हुए कार्यों को बडी सावधानी से वैसा ही पूरा करो, जैसा कि आप के पूर्वज देवों अर्थात् देव आर्य्यों ने किया है ॥ २ ॥

"समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति"॥ (ऋ० १०।१९१।४)।

अर्थ—हे हिन्दुओ ! आप का सङ्कल्प अर्थात् कार्य्य करने का इरादा एक हो, आप के कार्य्यसम्बन्धी विचार एक हों । आप का मनोबल एक हो और आप सब का सङ्घ (समुदाय) अच्छा जैसे हो, ऐसे आप सब के कर्म (कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार) हों ॥ ४ ॥

"कणाद" मुनि ने अपने सूत्र में कहा है कि धर्म से अभ्युदय (लोक-सुख) और निःश्रेयस (परलोक-सुख) की प्राप्ति होती है । कणाद मुनि का सूत्र यह है—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" ॥(वैशे० १।१।२)।

अर्थ—जिस कर्म के करने से अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, उस का (उस कर्म का) नाम धर्म है ॥ २ ॥

ज्ञान ध्यान आदि मानसिक कर्मों से निःश्रेयस की और वैयक्तिक तथा-सामुदायिक शक्ति से किये गये सब प्रकार के कर्मों से अभ्युदय की प्राप्ति होती है, यह अटल वैदिक नियम है । युवा अवस्था में अभ्युदय और वृद्ध अवस्था में निःश्रेयस प्राप्त किया जाता है, यह दोनों की प्राप्ति का ऋषि-निर्णीत निश्चित क्रम है । हिन्दुओं को चाहिये कि वे वेद भगवान् की आज्ञा-ओं का यथाविधि पालन करते हुए सब से पहले अपनी सामुदायिक शक्ति का सम्पादन करें, और पश्चात् यथाक्रम अभ्युदय तथा निःश्रेयस को प्राप्त करके अपना मनुष्यजन्म सफल करें । सामुदायिक शक्ति आपस में सम-भाव के वर्ताव से होती है, यह सर्वसम्मत है, इस में यत्किञ्चित् भी वैमत्य नही । इसलिये हिन्दुओं का **परम धर्म** यह है कि वे सच्चे मन से अपने को हिन्दु तथा सब हिन्दुओं को अपना बराबर का भाई मानें, और नये पुराणे सब वैर विरोध भूल कर आपस में सर्वदा सर्वत्र नियमपूर्वक सम-

भाव का वर्ताव करें और प्रतिदिन सोते जागते उठते बैठते श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक परमपिता परमात्मा से यह प्रार्थना किया करें—

"इन्द्र! श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि, चित्तिं दक्षस्य, सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्" ॥

(ऋ० २।२१।६)।

अर्थ—हे इन्द्र! हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमपिता परमात्मन्! आप हमें श्रेष्ठ धन दें, बलका ज्ञान दें, अच्छा ऐश्वर्य (स्वराज्य) दें। धनों की वृद्धि, शरीरों की अरोगता, वाणी की मधुरता और सुख से बीतने वाले जीने के दिन हमें दें ॥ ६ ॥

"त्वं राजेन्द्र! ये च देवा रक्षा नॄन् पाह्यसुर! त्वमस्मान्।
त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः" ॥

(ऋ० १।१७४।१)।

अर्थ—हे इन्द्र? आप राजा हैं उन सब के, जो मनुष्य हैं और देव हैं, हे सब के प्राणदाता! आप, हम सब अपने जनों की रक्षा करें। आप सच्चे स्वामी हैं, धनवान् हैं, आप ही हम को दुःख-सागर से पार करने वाले हैं, आप तीनों कालों में रहने वाले (त्रिकालाबाध) और अपने सेवकों को अपने देश में स्वतन्त्रतापूर्वक बसानेवाले तथा बल के देने वाले हैं ॥ १ ॥

"सख्ये त इन्द्र! वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभि प्रणोनुमो जेतारमपराजितम्" ॥ (ऋ० १।११।२)।

अर्थ—हे इन्द्र! हे बल के स्वामी! आप की मित्रता में बलवान् हुए हम किसी से भय-भित न हों। सब को जीतने वाले और स्वयं किसी से न जीते जाने वाले आप को, हम सब आप के सेवक, परम श्रद्धा और भक्ति से पुनः पुनः नमस्कार करते अर्थात् आप के साह्मने बडी नम्रता से बार बार अपना सिर झुकाते हैं ॥ २ ॥

इति शम्.

परिशिष्ट

शुद्धि में प्रमाण

वेदमन्त्र

(तैत्तिरीय-संहिता १ काण्ड १ प्रपाठक ३ अनुवाक)

"शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै" ॥३॥

अर्थ—शुद्ध करो तुम हिन्दुओ ! उनको, जो देव-आर्य्यों अर्थात् हिन्दुओं के कर्म नहीं करते, देव-आर्य्यों (हिन्दुओं) के कर्म करने के लिये, अर्थात् देव-आर्य्यों (हिन्दुओं) के अग्निहोत्र आदि यज्ञ कर्म करने के लिये ॥३॥

शुन्धध्वमिति मन्त्रेण व्यक्तं शुद्धिर्विधीयते ।
देवार्य्यकर्महीनानां म्लेच्छानां वा निसर्गतः ॥१॥
मन्त्रपूता विधातव्या सततं शुद्धिमिच्छताम् ।
सर्वेषामविलम्बेन यस्मादेषा महाफला ॥२॥
प्रच्युतिर्हिन्दुधर्माद् या साऽशुद्धिरिह कथ्यते ।
व्यवस्थितिश्च तत्रैव विधितः शुद्धिरुच्यते ॥३॥
अभक्ष्यभक्षणं प्राहुरशुद्धेः कारणं परम् ।
यन्मनोविभ्रमाभावे क्रियते स्वाभिलाषतः ॥४॥
मनोविभ्रमवेलायां कृतं वा कारितं बलात् ।
नाशुद्धिकारणं ज्ञेयमिति वेदविदां मतम् ॥५॥

वैदिकमुनिः